मुनि फूलचन्द्र "श्रमण"

उपासक प्रतिमा

गृहस्थ-धर्म

लेखक

मुनि फूलचन्द्र "श्रमण"

१. पुस्तक का नाम

उपासक प्रतिमा बनाम गृहस्थ धर्म

●

२. लेखक

मुनि फूलचन्द्र "श्रमण"

●

३. प्रकाशक

श्री जैन शिक्षा निकेतन होशियारपुर

●

४. द्रव्यदाता

गुप्तदान

●

५

प्राक्कथन

प्राणी जगत् में सभी कार्य प्रेरणा से ही होते हैं, प्रेरणा के बिना किसी भी कार्य को करने के लिए कोई भी व्यक्ति उद्यत नहीं हो सकता, यह एक अनादि नियम है। इसे रद्दो बदल करने की किसी में शक्ति नहीं है। जो भी प्राणी शुभ-अशुभ कार्य करता है उसके अन्तर्गत प्रेरणा ही काम करती है। शुभ-अशुभ संस्कारों को प्रेरणा ही जगाती है। शुभ प्रेरणा से प्राणी उत्थान एवं प्रगति की ओर कदम बढ़ाता है और अशुभ प्रेरणा से अवनति एवं दुर्गति की ओर। वास्तव में यदि देखा जाए तो मनुष्य का जीवन, शैशव काल से लेकर आयु के अन्तिम क्षण तक केवल प्रेरणा पर ही अवलम्बित है। यह बात अलग है कि वह प्रेरणा भले ही—

आन्तरिक हो या बाह्य,
प्रत्यक्ष हो या परोक्ष,
इन्द्रियगम्य हो या अनुभवगम्य,
अक्षरों में हो या अनक्षरों में
प्रकृति से प्राप्त हो या चेतन से,
त्यागिवर्ग से हो या गृहस्थ से,
पुस्तक से हो या उपदेश से,
आदेश से हो या सन्देश से,
संकेत रूप से हो या स्पष्ट रूप से॥

होगी प्रेरणा अवश्य ही क्योंकि प्रेरणा के बिना किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतएव इस पुस्तक को लिखने के लिए मुझे भी प्रेरणा मिली है, मुझे बाह्य प्रेरणा तो निर्ग्रन्थ प्रवचन कोविद, सम्यग्दर्शन के सम्पादक पण्डितरत्न श्री रतनलाल जोशी जी के पत्र-व्यवहार से

प्राप्त हुई और आन्तरिक प्रेरणा तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मिली अर्थात् बाह्य प्रेरणा से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उपासक प्रतिमा का स्वरूप लिखना मेरी शक्ति के अन्तर्गत है बाहर नहीं, ऐसा आत्म-विश्वास हुआ। इस विषय में आन्तरिक रुचि और मानसिक उत्साह इन दोनों को बाह्य प्रेरणा ने ही जगाया है। यद्यपि निबन्ध लिखने में तथा 'सम्यग्दर्शन' को भेजने में अनेकों अड़चनें आती रहीं तदपि मैंने अपनी ज्ञान-शक्ति के अनुसार इस निबन्ध को पूर्ण करने का भरसक प्रयत्न किया है। जो निबन्ध सम्यग्दर्शन पाक्षिक पत्र में 'उपासक प्रतिमाओं का स्वरूप' इस शीर्षक के रूप में प्रकाशित होता रहा वही सामग्री आपके करकमलों में आज गृहस्थ धर्म नामा पुस्तक के रूप में आ गई है। इस पुस्तक में जो टिप्पणियां यथास्थान दी हुई हैं वे सब डोशी जी की लिखी हुई हैं।

इस पुस्तक में क्या विषय है ? यद्यपि इसका स्पष्ट उत्तर पुस्तक का नाम ही दे रहा है तदपि प्रतिभाशाली पण्डित श्री ज्ञानमुनि जी का लिखा हुआ 'दिग्दर्शन' संज्ञक प्रस्तावना के अध्ययन करने से उपासक-प्रतिमा के अन्तरात्मा की झाँकी स्पष्ट प्रतीत हो जाएगी। अतः पाठकगण सबसे पहले दिग्दर्शन का अध्ययन अवश्य करें तदनन्तर आगे बढ़ते हुए उपक्रम, ११ सोपान और परिशिष्ट सामग्री का अवलोकन करें। मुझे आशा ही नहीं बल्कि पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक, गृहस्थ-धर्म क्या है ? इसका परिचय देने में बहुत कुछ सफल रहेगी।

अल्पज्ञ एवं छद्मस्थ होने से यदि कहीं लिखने में या छपाई में भूल रह गई हो तो मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

—मुनि फूलचन्द्र 'श्रमण'

दिग्दर्शन

धर्म और शान्ति—

जीवन की सुखशान्ति के साथ धर्म का अटूट सम्बन्ध है। जहां धर्म है, वहां सुख है, जहां धर्म है वहां शान्ति है। धर्म की उपस्थिति में क्लेश और अशान्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। सूर्य और अन्धकार का कभी मेल हो सकता है? कभी नहीं। धर्म और अशान्ति का भी कभी सान्निध्य नहीं हो सकता।

धर्म का आराधन, परिपालन जीवन को सुखमय और निरापद बनाता है। धर्म के आसेवन से जीवन के समस्त संकट दूर हो जाते हैं। धर्म की भावना ही इन्सान के लिए भगवान को प्राप्त करने का पवित्र एवं मधुर माध्यम है।

धर्म की महिमा—

धर्म की महिमा महान् है। धर्म सब मंगलों का मूल है। धर्म मानवी जीवन को ऊंचा उठाता है। धर्म दुर्गति में गिर रहे जीवन को धारण करता है वह उसे नीचे नहीं गिरने देता। धर्म की शक्ति बड़ी विलक्षण है। भानुजी दीक्षित कहते हैं:—

"धरति विश्वमिति धर्मः"

धर्म विश्व को धारण करता है। विश्व की स्थिति धर्म पर आधारित है धर्म के प्रताप से विश्व स्थित है।

धर्म के आचरण से आत्मा क्रमशः महात्मा और परमात्मा के उच्च तथा उच्चतर पद को प्राप्त करता है। धर्म सेवी व्यक्ति

देव वन्दनीय बन जाता है। धर्म की महिमा का गान करते हुए स्वयं भगवान महावीर ने कहा था—

> *देवा वि तं नमंसन्ति,
> जस्स धम्मे सया मणो।

जिस साधक के हृदय में धर्म निवास करता है उसके चरणों में देवता भी अपना मस्तक झुका देते हैं।

एक पाश्चात्य विद्वान् धर्म की महिमा गाते हुए कितनी सुन्दर बात कह रहे हैं:—

> Religion what breasures untold
> Reside in that heavenly world
> More precious than silver and gold,
> Or all this earth can afford.

'धर्म' इस शब्द में कैसा अकथनीय खज़ाना भरा हुआ है। सोना, चान्दी रत्न, मोती और पृथ्वी की समस्त मूल्यवान वस्तुओं से भी धर्म अत्यधिक मूल्यवान है।

धर्म की दुर्लभता—

धर्म जितना महान है उस को प्राप्त करना उतना ही कठिन है। धर्म दुर्लभ है। धर्म की दुर्लभता का वर्णन करते हुए एक आचार्य कहते हैं—

> लब्भन्ति विमले भोए, लब्भन्ति सुरसंपया।
> लब्भन्ति पुत्तमित्तं च, एगो धम्मो सुदुल्लहो॥

—मनुष्य को भोग्य, उपभोग्य सभी पदार्थ सुविधापूर्वक प्राप्त हो जाते हैं, उसे स्वर्गपुरी का वैभव, वहां के रतनजटित महल, दिव्य वस्त्रा-

---

* दशवैकालिकसूत्र १—१

भूपत्व प्राप्त करने कठिन नहीं हैं। तथा पुत्र, मित्र, कलत्र आदि स्वजनों का उपलब्ध करना भी कोई मुश्किल कार्य नहीं है। ये सब पदार्थ सुलभ हैं किन्तु एक धर्म को प्राप्त करना कठिन है, दुष्कर है।

धर्म के दो प्रकार—

जैन परम्परा के अनुसार धर्म के दो प्रकार होते हैं—अगार धर्म और अनगार धर्म। स्थानांगसूत्र के द्वितीय स्थान में भगवान महावीर ने कहा था—

चरित्त धम्मे दुविहे पण्णते तंजहा-
अगार चरित्तधम्मे चेव, अणगार-चरित्त धम्मे चेव।

चरित्र धर्म दो तरह का होता है—अगार—चारित्र धर्म और अनगार—चारित्र धर्म। अगार चारित्र धर्म गृहस्थ-धर्म का नाम है। गृहस्थ का अर्थ है-

"गृहे तिष्ठतीति गृहस्थः"

जो व्यक्ति घर में निवास करता है, कञ्चन, कामिनी का सर्वथा त्यागी नहीं है। उसे गृहस्थ कहते हैं। उसका धर्म-मर्यादा, नियम गृहस्थधर्म कहा जाता है।

अनगार चारित्र धर्म साधु धर्म को कहते हैं। साधु कञ्चन, कामिनी का सर्वथा त्यागी होता है, उसका अपना कोई घर डेरा या मठ नहीं होता है, इसलिए इसे अनगार कहा जाता है। अनगार का धर्म, साधु-जनों का धार्मिक विधिविधान अनगार धर्म कहा गया है।

गृहस्थ-धर्म—

जैन साहित्य में गृहस्थधर्म के सम्बन्ध में बड़ा विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। इन की व्याख्या ने जैन-साहित्य का बहुत बड़ा भाग रोक रखा है। आज भी इन दोनों धर्मों के सम्बन्ध में जैनाचार्यों

ने जो कुछ उल्लेख किया है उसको आधार बनाकर अनेकों स्वतन्त्र पुस्तकें तैयार की गई हैं। इन पुस्तकों में विद्वान लेखकों ने अपने-अपने ढंग से, अपनी-अपनी शैली से दोनों धर्मों की उपादेयता तथा कल्याणकारिता पर प्रकाश डाला है। "गृहस्थ-धर्म" उन आधुनिक पुस्तकों में से एक पुस्तक है, जिस में गृहस्थ-धर्म के सम्बन्धों में बड़ी सुन्दरता के साथ चिन्तन किया गया है। यह पुस्तक केवल गृहस्थ धर्म की व्याख्या करने के उद्देश्य से लिखी गई है। तथा इस में केवल गृहस्थ-धर्म के स्वरूप को लेकर विचार प्रस्तुत किए गए हैं। यह तथ्य इस पुस्तक के नाम से ही स्पष्टतया ध्वनित हो रहा है।

पुस्तक का मुख्य विषय—

'गृहस्थ धर्म' इस पद के उच्चारण से गृहस्थ जीवन के सभी आध्यात्मिक अनुष्ठानों तथा विधि विधानों का बोध हो जाता है। पुस्तक के नाम से ऐसा लगता है कि इस में गृहस्थ-जीवन-सम्बन्धी सभी धार्मिक विधि-विधानों की चर्चा की गई है, तथा सभी के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। परन्तु इस पुस्तक का मुख्य विषय श्रावक की ११ प्रतिमाएं हैं। विशेष रूप से इस पुस्तक में इन्हीं प्रतिमाओं का विवेचन किया गया है।

प्रतिमा का अर्थ और उसके भेद—

अध्यात्म जगत में प्रतिमा का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। आध्यात्मिक समुच्चता को प्राप्त करने वाला साधक इनका आराधन तथा परिपालन किए बिना आगे नहीं बढ़ सकता। मोक्षमन्दिर में प्रविष्ट होने के लिए ये प्रतिमाएं सोपान का काम देती हैं। इन का आचरण, श्रावक के श्रावकत्व को तेजस्वी तथा ओजस्वी बना डालता है।

प्रतिमा का अर्थ है—अभिग्रहविशेष या प्रतिज्ञा। साधु और श्रावक

दोनों ही प्रतिमाओं का आराधन करते हैं। साधु की प्रतिमाएं १२ हैं। जो भिक्षुप्रतिमा के नाम से जैनजगत में प्रसिद्ध हैं। गृहस्थ की प्रतिमाएं ११ होती हैं। 'गृहस्थ धर्म' पुस्तक में गृहस्थ की प्रतिमाओं का स्वरूप लिखा गया है। इन प्रतिमाओं का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

१. दर्शनप्रतिमा—

यह श्रावक की पहली प्रतिमा है। इस में सम्यक्त्व की आराधना करनी पड़ती है। सम्यक्त्व के दोषों से उसे सुरक्षित रखा जाता है। इस का आराधन—काल, एक मास है।

२. व्रतप्रतिमा—

इस में श्रावक चारित्रशुद्धि की ओर झुकता है। अहिंसा, सत्य आदि अणुव्रतों का पालन करता है। गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का भी इस में आराधन किया जाता है। किन्तु सामायिक और देशावकाशिक इन व्रतों की सम्यक्तया आराधना नहीं की जाती। इसका समय दो मास का है।

३. सामायिक-प्रतिमा—

इस में दूसरी प्रतिमा की भान्ति व्रतों का आराधन करना होता है। तथा इस में सामायिक और देशावकाशिक इन व्रतों की भी पालना की जाती है। इस का पालक व्यक्ति अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वतिथियों में पौषध नहीं करता है। इस का समय तीन मास का है।

४. पौषधप्रतिमा—

इस में तीसरी प्रतिमा के समान व्रतों की आराधना की जाती है और इस में अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वतिथियों में भी पौषध का पालन होता है। इस का समय चार मास का है

५. नियम प्रतिमा—

चौथी प्रतिमा के समान इसमें साधना की जाती है। इस में निम्नोक्त पांच बातों का विशेष रूप से पालन करना होता है—

१. स्नान न करना २. हजामत न बनाना* ३. पैरों में जूता न पहनना ४. धोती को लांग न देना ५ दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना।

इस प्रतिमा का समय कम से कम एक दिन, अधिक से अधिक पांच मास होता है।

६. ब्रह्मचर्य-प्रतिमा—

पांचवीं प्रतिमा की तरह इस में व्रतों का पालन किया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि इस में ब्रह्मचर्य की पूर्णतया पालना की जाती है। इसका समय उत्कृष्ट छः मास हैं।

७. सचित्त त्याग प्रतिमा—

छठी प्रतिमा तथा इस में इतना अन्तर है कि उसमें सचित्त पदार्थों का सेवन कर लिया जाता है, परन्तु इसमें नहीं। इसका समय सात मास हैं।

८. आरम्भ-त्याग-प्रतिमा—

इस में सातवीं प्रतिमा के समान व्रतों का पालन, और सचित्त पदार्थों का सर्वथा परित्याग होता है। अन्तर इतना है कि पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावर जीवों के आरम्भ-वध करने का त्याग किया जाता है। इसका उत्कृष्ट समय आठ मास हैं।

---

*जैनसिद्धान्त बोलसंग्रह में लिखा है—रात्रि में चारों आहारों का त्याग करना।

९. प्रेष्यारम्भ त्याग प्रतिमा—

इस में पूर्व की अपेक्षा त्याग की मात्रा बढ़ जाती है। स्वयंकृत आरम्भ के परित्याग के साथ-साथ दूसरे द्वारा आरम्भ करने का भी त्याग कर दिया जाता है। इसका उत्कृष्ट समय आठ मास है।

१०. उद्दिष्ट भक्त त्याग-प्रतिमा—

इस प्रतिमा में पूर्व की भांति आरंभ-परित्याग, प्रेष्यारंभ परित्याग करने के अनन्तर अपने निमित्त से बने आहार आदि समस्त पदार्थों के उपभोग का त्याग किया जाता है। इस का आराधन-काल उत्कृष्ट १० मास है।

११. श्रमणभूत-प्रतिमा—

श्रावक की ११ प्रतिमाओं में इस का अन्तिम स्थान है। इस में श्रावक अपने को साधु के समान बना लेता है। साधु की तरह मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा, असत्य आदि आस्रवों का परित्याग करता है, केशलुंचन करता है। ४२ दोष टाल कर भिक्षा लेता है, इस प्रकार अपना सब क्रिया-काण्ड साधु जैसा बना लिया जाता है। पर इस प्रतिमा का धारक व्यक्ति अपने को साधु नहीं समझता। पूछने पर यही कहता है कि मैं प्रतिमाधारी श्रावक हूँ, साधु नहीं हूँ।

पुस्तक में क्या है ?

उक्त पंक्तियों में श्रावक की ११ प्रतिमाओं की केवल झांकी प्रस्तुत की गई है। इन्हीं प्रतिमाओं का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत "गृहस्थ धर्म" नामक पुस्तक में किया गया है। प्रतिमाओं का सुन्दर विश्लेषण होने के साथ-साथ इस पुस्तक में श्रावक के १२ व्रतों पर भी बड़ा आकर्षक और रुचिपूर्ण प्रकाश डाला गया है। पुस्तक के अन्त में एक परिशिष्ट जोड़ा गया है। जैनागमों में जहां कहीं भी श्रावकवृत्ति का वर्णन आया

है, उस के उपयोगी अंशों का इस में संकलन किया गया है। इस परिशिष्ट के जुड़ जाने से जहां इस पुस्तक की उपयोगिता तथा लोकप्रियता और बढ़ गई है, वहां इसे प्रामाणिकता भी प्राप्त हो गई है।

पुस्तक रूप में—

"गृहस्थ-धर्म" पुस्तक पूर्व विभिन्न लेखों द्वारा सैलाना से प्रकाशित हो चुकी है। वही सामग्री आज पुस्तक के रूप में हमारे सामने है। इस सामग्री को पुस्तक का रूप मिल जाने से अनेकों लाभ हुए हैं—इस का प्रतिपाद्य विषय व्यवस्थित हो गया है तथा वह हिन्दी साहित्य का एक स्थायी एवं उपयोगी अंग बन गया है।

'गृहस्थ धर्म' की भाषा बड़ी सरल है। कठिन शब्दों का सन्निवेश करके इसे कठिन नहीं बनाया गया है। भाषा इतनी सुबोध और सरल है कि कुछ कहते नहीं बनता। भावों की प्राञ्जलता को सर्वथा सुरक्षित रखा गया है। "गृहस्थधर्म" पर शास्त्रीय पद्धति से प्रकाश डालने वाली इस पुस्तक की अत्यधिक आवश्यकता थी। लेखक ने अपने अनवरत परिश्रम द्वारा इस आवश्यकता को पूर्ण करके धार्मिक जगत पर बड़ा उपकार किया है तथा हिन्दी-साहित्य की इष्ट सेवा की है।

श्रद्धेय श्री फूलचन्द्र जी म०—

'गृहस्थधर्म' के लेखक हमारे श्रद्धेय पण्डितप्रवर श्री फूलचन्द्र जी महाराज "श्रमण" हैं। श्रमण जी महाराज स्थानक वासी जैन-समाज के एक लब्धप्रतिष्ठ तथा त्यागी, वैरागी मुनिराज हैं। आप परम श्रद्धेय गुरुदेव जैन धर्म दिवाकर, साहित्यरत्न, जैनागमरत्नाकर, श्री वर्धमान स्थानक वासी जैन श्रमणसंघ के अधिपति आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के सुशिष्य पण्डितरत्न, युगस्रष्टा,

स्वनामधन्य श्री स्वामी खजानचन्द्र जी महाराज के प्रिय शिष्यरत्न हैं। श्रद्धेय 'श्रमण" जी के जीवन में जहां त्याग, वैराग्य अपनी चरम-सीमा के निकट जाने के लिये लालायित हो रहा है, वहां इस में जैन जैनेतर शास्त्रों का गंभीर वैदुष्य भी अपनी अपूर्व छटा दिखलाने में प्रयत्नशील है। श्रमण जी की संयमनिष्ठा तथा ज्ञानोपासना ने उन्हें क्या बाल, क्या युवक, क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या साधु, क्या साध्वी सभी की दृष्टि में सम्मानास्पद बना दिया है। "गृहस्थधर्म" "श्रमण" जी महाराज की ज्ञानाराधना का ही एक मधुर फल है। मैं तो गंभीर तथा शास्त्रीय मन्तव्यों से ओतप्रोत इस नूतन रचना के लिए श्रमण जी महाराज को बधाई देता हूँ।

श्रद्धेय श्रमण जी महाराज ने नयवाद, क्रियावाद आदि अन्य पुस्तकें भी लिखी हैं। ये सब पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। साहित्य-जगत् में इन को आशातीत सम्मान प्राप्त हुआ है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि श्रमणजी म० की अन्य कृतियों की तरह "गृहस्थधर्म" भी साहित्य-जगत में अपूर्व सम्मान प्राप्त करेगा।

मालेर कोटला,
ज्ञान पंचमी,
कार्तिक शुक्ला ५,
२०११

ज्ञानमुनि

धन्यवाद

पाठक प्रेमी जनों को यह जानकर महान् आश्चर्य और हर्ष होगा कि एक धर्मप्रिय सज्जन ने योगनिष्ठ श्रमण श्री फूलचन्द्र जी महाराज के जीवन से प्रभावित होकर स्वयं सहर्ष इस पुस्तक को छपवाने के लिए द्रव्य तो दे दिया परन्तु उन्होंने अपना नाम, स्थान, तथा अपने फर्म का नाम बताने से बिल्कुल इन्कार कर दिया है। वस्तुतः "बहुरत्ना वसुन्धरा" की लोकोक्ति आपने चरितार्थ की है जबकि आजके युग में 'लोगों की मानसिक स्थिति कुछ ऐसी चल रही है कि जिस किसी शुभकार्य को सम्पन्न करने के लिए यदि कोई एक रुपया भी देता है तो वह अपना नाम समाचार-पत्रों में छपवाना चाहता है या किसी महान् जनसमूह में लोगों की करतल ध्वनि के साथ अपना नाम सुनना चाहता है या दानवीरों की नामावली में अपना नाम और अपना चित्र सर्वोपरी देना चाहता है। परन्तु ऐसे व्यक्ति विरले ही मिलेंगे जो कि पर्याप्त मात्रा में द्रव्य देकर भी अपने आपको सर्वथा गुप्त ही रखते हों। हमें ऐसे महानुभावों से शिक्षा लेनी चाहिए कि श्रुतसेवा, शासनोन्नति, संघवैयावृत्य, परोपकार करने का जब कभी पुण्योदय से शुभ अवसर प्राप्त हो, तब अपनी नामवरी की इच्छा न रखते हुए सहर्ष अपनी संपत्ति गुप्तदान में लगानी चाहिए। मैं गुप्तदानी महानुभाव का धन्यवादी हूं जिन्होंने श्रुतसेवा के लिए गुप्त दान देकर हमारे लिए एक सुप्रशस्त मार्ग प्रदर्शित किया है।

भवदीय

प्रधान, श्री जैन-शिक्षा-निकेतन

होशियारपुर

विषय-सूची

श्रावक के षड् आवश्यक

१. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वन्दना
४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान।

श्रावक की महत्ता

धर्मे तत्परता, मुखे मधुरता, दाने समुत्साहता,
मित्रेऽवंचकता, गुरौ विनयता, चित्तेऽतिगम्भीरता।
आचारे शुचिता, गुणे रसिकता, शास्त्रेषु विज्ञातृता,
रूपे सुन्दरता, जिने भजनता त्वय्यस्ति भो मानव ॥

श्रावक की दैनिक चर्या

जिनभक्ति, गुरुसेवा, स्वाध्याय
संयम तपः दान।

उपक्रम

११ पडिमाओं की उत्थानिका

जीव अनादिकाल से कार्मण तथा तैजस शरीर में निवास कर रहा है। ऐसा कभी समय नहीं था और न होगा ही—जब कि कर्मों से रहित होकर फिर कर्मों से लिप्त हो जाय। भव्यों की अपेक्षा कार्मण शरीर अनादि सान्त है और अभव्यों की अपेक्षा अनादि अनन्त।

एक ओर बन्ध दूसरी ओर भोग और तीसरी ओर निर्जरा (आंशिक क्षय) ये तीन क्रियाएँ युगपत् सदैव चालू रहती है। पाठकगण इसका अर्थ ऐसा न समझें कि पहले क्षण में जो कर्म बन्धा है उसी को दूसरे क्षण में भोगता है और तीसरे क्षण में उसी को क्षय कर देता है। बल्कि प्रत्येक कर्म की अलग अलग अवस्थिति है।

शंका—जो बन्धन अनादि है, वह कट नहीं सकता, अतः बन्ध से कोई भी जीव मुक्त नहीं हो सकता ?

समाधान—किसी भी कर्म की स्थिति ७० क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम से अधिक नहीं है। जैसे कि किसी जीव ने अभी मोहकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बान्धी, जिसकी स्थिति ७० क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम है, उतनी देर तक ही वह बन्ध आत्म प्रदेशों के साथ रहता है इससे अधिक नहीं। उसके बाद वह आत्म प्रदेशों से अलग हो जाता है।

जब काल लब्धि से सभी कर्मों की स्थिति देश ऊना एक कोड़ाकोड़ सागरो म की रह जाय, तब क्रमशः यथाप्रवृत्तिकरण अपूर्वकरण तथा अनिवृत्ति करण करता है ऐसा करने से स्थितिघात और रसघात होता है तब कहीं जीव सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त करता है।

सम्यक्त्व का अर्थ होता है सत् असत् का विवेक। वह आत्म शुद्धि के बिना नहीं हो सकता। आत्म विशुद्धि कषायों की मन्दता से होती है।

अनन्त जन्म-मरण की वृद्धि कराने वाले, अनन्त दुःख बढ़ाने वाले, अनन्तानुबन्धि कषायचतुष्क को तथा मिथ्यात्व को सर्वथा उपशान्त करने से, या सर्वथा क्षय करने से, या क्षयोपशम करने से, सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व लाभ होने के पश्चात् किसी भी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति नहीं बंधती। सम्यक्त्व लाभ होते ही उसमें दृष्टिशुद्धि, उपायशुद्धि और ध्येयशुद्धि—ये तीनों युगपत् पैदा होते हैं।

१. दृष्टिशुद्धि का अर्थ है—सत्य के परीक्षण के लिये द्वेष तथा पक्षपात से दूर रह कर वस्तु को तटस्थ वृत्ति से देखने की क्षमता।

२. उपाय शुद्धि का अर्थ है—वस्तु को जानने के उपाय निर्दोष होने चाहिए।

३. ध्येय शुद्धि का अर्थ है—कि ध्येय सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट होना चाहिये।

आत्म शुद्धि से सम्यक्त्व प्राप्त होता है, सम्यक्त्व लाभ होने पर ही शुद्धि हो सकती है। ध्येय शुद्ध होने पर ही

जो साधक जिस पडिमा में ठहरा हुआ है, वह वहां के निःशेष नियम उपनियमों का पालन करते हुए यदि अगली पडिमा में पहुँच ने की उत्कट भावना को क्रियात्मक रखे तो ऊपर की पडिमा में पहुंच सकता है।

यदि वह साधक ऊपर की पडिमा का कार्यभार वहन करने में अपने आपको असमर्थ समझता है तो पुनः उसी पडिमा में भी रह सकता है।

यदि उस पडिमा का समय समाप्त हो रहा हो, तो साधक अपनी शक्ति को तोले कि अब मैं कौनसी पडिमा का वहन कर सकता हूं ? जैसी उत्साह शक्ति, मानसिक शक्ति एवं शारीरिक शक्ति हो उसी के अनुसार पडिमा को धारण करे। इसमें कोई हानि नहीं है। यदि किसी समय अपनी शक्ति को न्यून देखता है, तो पीछे की या नीचली पडिमा में आना चाहे, तो वह भी भगवान् की आज्ञा में ही है, परन्तु जो अगली पडिमा को धारण तो कर लेता है—अभिमान तथा आग्रह वश, लेकिन उस पडिमा का वह सम्यक् प्रकारेण पालन नहीं करता तो वह क्रिया भगवान की आज्ञा में नहीं है।

क्योंकि अगार धर्म सुवर्ण के सदृश है। गांठ में जितने रुपये हों उतने से सुवर्ण खरीदा जा सकता है, परन्तु अणगार धर्म मुक्ताफल के सदृश है, जौहरियों ने जितनी कीमत उसकी आंकी, है, बस वही उसकी कीमत है। जिसमें उतनी शक्ति खरीदने की हो, वही उसे खरीद सकता है।

११ पडिमाएं, उपासकों की ११ स्टेजें हैं, जो ११ पडिमाओं की आराधना सम्यक् प्रकार से करता है, वह सदा के लिये ११ स्थानों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है। जैसे

कि— १ नरकगति, २ तिर्यञ्चगति, ३ असंज्ञी मनुष्य, ४ भवन-पति, ५ वानव्यन्तर, ६ ज्योतिषी, ७ किल्विषी, ८ तिर्यग्जृंभक, ९ परमाधामी, १० स्त्रीवेद और ११ नपुंसकवेद।

वह तो वैमानिकों में भी उच्चवैमानिक बनता है, या उच्च-कुल, उच्च जाति में जन्म लेने वाला मनुष्य* बनता है। जब तक वह चरम शरीरी न बन जाय, तब तक यही परम्परा चालू रहती है। ७-८ भव से अधिक जन्म नहीं लेता। इतना महान लाभ उपासक पडिमा की आराधना का है, जिसकी ओर से आज कल के श्रावक उपेक्षित हो रहे हैं।

उपासक शब्द की व्याख्या

उपासक शब्द यौगिक है। यह उप-उपसर्ग आस् धातु और ण्वुल प्रत्यय इन तीनों के समुदाय से बनता है, जिसका अर्थ होता है उपासना करने वाला। उपास्य के अनेक भेद होने से उपासक के भी अनेक भेद हैं।

जिसकी बुद्धि में अविवेक है, हृदय में भावुकता है, मन में अन्धश्रद्धा है, और जीवन में अज्ञानता है, इस कोटि के उपासक मिथ्यादृष्टि होते हैं।

जिसकी बुद्धि विवेक से समुज्ज्वल है, हृदय निष्कपट होने से भावुक है, सम्यक् श्रद्धा से मन ओत-प्रोत होने के कारण

---

* अर्थात्—पहले आयु नहीं बँधी हो तो प्रतिमाधारी श्रावक वैमानिकदेव होता है और वहाँ से च्यवकर मनुष्य होता है। जब तक मुक्ति नहीं होती, तब तक यदि सम्यक्त्व से च्युत न हो, तो ये दो ही गति होती हैं।

शुद्ध विचारों का स्रोत बना हुआ है, जीवन ज्ञानालोक से आलोकित है, जिसका प्रत्येक क्षण सफल एवं धर्ममय है, इस कोटि के उपासक निश्चय ही सम्यग्दृष्टि होते हैं। इस प्रकार सभी उपासकों का अन्तर्भाव उक्त दोनों भेदों में हो जाता है। किन्तु फिर भी पाठकगणों की जानकारी के लिए मध्यम मार्ग को अपनाते हैं।

कोई गरुड़, मयूर आदि पक्षियों के उपासक हैं।

कोई देवी देवताओं के उपासक हैं।

कोई कुगुरुओं के उपासक हैं।

कोई गऊ आदि पशुओं के उपासक हैं।

कोई वृक्ष तथा सर्प आदि अपद के उपासक होते हैं।

कोई अचित्तवस्तु के उपासक होते हैं।

कोई क्षेत्र तथा काल के उपासक होते हैं।

उपर्युक्त उपासकों की प्रतिमा का यहां प्रसंग नहीं है। यहाँ केवल भावोपासक का ही प्रसंग है—अन्य का नहीं। भावोपासक को ही 'श्रमणोपासक' कहते हैं। यह प्राकृत भाषा में 'समणोवासग' बनता है। समण के संस्कृत में चार रूप बनते हैं—श्रमण, शमन, समन और समण इनका संक्षिप्त अर्थ निम्नोक्त है—

श्रमण—श्राम्यन्ति तपस्यन्तीति श्रमणाः अर्थात् जो अपने श्रम के द्वारा किये हुए संयम तप-साधना से मोक्ष प्राप्त करते हैं। जिनकी मान्यता है कि जीव अपना विकास अपने ही परिश्रम के द्वारा कर सकता है, एवं जीव स्वयं ही उन्नति, अवनति, सुख-दुःख, उत्थान-पतन, विकास-ह्रास का उत्तरदायी है,

ईश्वर आदि अन्य शक्ति नहीं। ऐसा समझ कर जो अपने विकास के लिए स्वयं उत्तरोत्तर परिश्रम करते हैं, उन्हें श्रमण कहते हैं।

शमन—शमयंति अकुशलचित्तवृत्तीर्ये ते शमनाः जो अकुशल चित्तवृत्तियों को सर्वथा शान्त करते हैं, उन्हें 'शमन' कहते हैं। कुशल चित्तवृत्तियों से आत्मा का उत्थान होता है और अकुशलवृत्तियों से आत्मा का पतन होता है। अकुशल चित्त-वृत्तियों से निवृत्ति पाना और कुशल चित्तवृत्तियों में सतत प्रयास करना, जिनके जीवन का यही लक्ष्य बना हुआ है, उन्हें 'शमन' कहते हैं।

समन—जो शत्रु और मित्र में समभाव रखते हैं, एवं स्तुति और निंदा में, जीवन और मरण में, कंचन और कांच में, हानि और लाभ में, उदय और अस्त में, मान और अपमान में, सुख और दुःख में, सर्दी और गर्मी में, राग और द्वेष में समभाव रखते हैं उन्हें समन कहते हैं।

समण—अथवा "समम् अणन्ति सर्वजीवेषु तुल्यं वर्तन्ते यत स्तेन ते समणाः"। सम् उपसर्ग अण् धातु वर्तन अर्थ में अर्थात् जो सर्व जीवों में तुल्य वर्तते हैं। जो अपने समान सभी प्राणियों में वर्तते हैं, दुःख अपने को भी बुरा लगता है तो दूसरों को भी बुरा लगता है, एवं सुख यदि अपने को अच्छा लगता है तो दूसरों को भी अच्छा लगता है। ऐसा समझ कर जिन्होंने समस्त जीवों के साथ स्थायी मैत्री स्थापन कर ली है—उन्हें समण कहते हैं।

श्रमण, शमन, समन और समण इन चारों का प्राकृत में समण ही बनता है, उपर्युक्त चारों का अन्तर्भाव समण में हो जाता है। जो समणों का उपासक हो उसे 'समणोपासक'

शुद्ध विचारों का स्रोत बना हुआ है, जीवन ज्ञानालोक से आलोकित है, जिसका प्रत्येक क्षण सफल एवं धर्ममय है, इस कोटि के उपासक निश्चय ही सम्यग्दृष्टि होते हैं। इस प्रकार सभी उपासकों का अन्तर्भाव उक्त दोनों भेदों में हो जाता है। किन्तु फिर भी पाठकगणों की जानकारी के लिए मध्यम मार्ग को अपनाते हैं।

कोई गरुड़, मयूर आदि पक्षियों के उपासक हैं।

कोई देवी देवताओं के उपासक हैं।

कोई कुगुरुओं के उपासक हैं।

कोई गऊ आदि पशुओं के उपासक हैं।

कोई वृक्ष तथा सर्प आदि अपद के उपासक होते हैं।

कोई अचित्तवस्तु के उपासक होते हैं।

कोई क्षेत्र तथा काल के उपासक होते हैं।

उपर्युक्त उपासकों की प्रतिमा का यहां प्रसंग नहीं है। यहां केवल भावोपासक का ही प्रसंग है—अन्य का नहीं। भावोपासक को ही 'श्रमणोपासक' कहते हैं। यह प्राकृत भाषा में 'समणोवासए' बनता है। समण के संस्कृत में चार रूप बनते हैं—श्रमण, शमन, समन और समण इनका संक्षिप्त अर्थ निम्नोक्त है—

ईश्वर आदि अन्य शक्ति नहीं। ऐसा समझ कर जो अपने विकास के लिए स्वयं उत्तरोत्तर परिश्रम करते हैं, उन्हें श्रमण कहते हैं।

शमन—शमयति अकुशलचित्तवृत्तीर्याः स शमनः जो अकुशल चित्तवृत्तियों को सर्वथा शान्त करते हैं, उन्हें 'शमन' कहते हैं। कुशल चित्तवृत्तियों से आत्मा का उत्थान होता है और अकुशलवृत्तियों से आत्मा का पतन होता है। अकुशल चित्त-वृत्तियों से निवृत्ति पाना और कुशल चित्तवृत्तियों में सतत प्रयास करना, जिनके जीवन का यही लक्ष्य बना हुआ है, उन्हें 'शमन' कहते हैं।

समन—जो शत्रु और मित्र में समभाव रखते हैं, एवं स्तुति और निंदा में, जीवन और मरण में, कंचन और कांच में, हानि और लाभ में, उदय और अस्त में, मान और अपमान में, सुख और दुःख में, सर्दी और गर्मी में, राग और द्वेष में समभाव रखते हैं उन्हें समन कहते हैं।

समण—अथवा "सममणति सर्वजीवेषु तुल्यं वर्तते इति स्वेन स समणः"। सम् उपसर्ग अण् धातु वर्तन अर्थ में अर्थात् जो सर्व जीवों में तुल्य वर्तते हैं। जो अपने समान सभी प्राणियों में वर्तते हैं, दुःख अपने को भी बुरा लगता है तो दूसरों को भी बुरा लगता है, एवं सुख यदि अपने को अच्छा लगता है तो दूसरों को भी अच्छा लगता है। ऐसा समझ कर जिन्होंने समस्त जीवों के साथ स्थायी मैत्री स्थापित कर ली है—उन्हें समण कहते है।

श्रमण, शमन, समन और समण इन चारों का प्राकृत में समण ही बनता है, उपर्युक्त चारों का अन्तर्भाव समन में हो जाता है। जो समणों का उपासक हो उसे 'समणोपासक'

कहते हैं, संस्कृत में चारों ही रूप बन जाते हैं। जैसे कि श्रमणोपासक, शमनोपासक, समनोपासक एवं समणोपासक। इनमें श्रमण शब्द की मुख्यता होने से श्रमणोपासक का प्रयोग किया गया है, शेष शब्द उसी के पोषक हैं। जो शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार क्रिया करता है, उसे आगमतः 'श्रमणोपासक" कहते हैं और जो विशुद्ध भावों के द्वारा शास्त्रीय मर्यादा से ऊपर उठ गया है, उसे नोआगमतः श्रमणोपासक कहते हैं।

जो धर्म श्रवण की इच्छा से श्रमणों के समीप बैठता है, अथवा जिसका जीवन यत्किंचित् साधुओं जैसा हो, उसे भी श्रमणोपासक कहते हैं। यद्यपि श्रमणों की सेवा भक्ति अनेक प्रकार की है, तदपि उन सब में सर्वप्रधान एवं मुख्य भक्ति, भावश्रमणों के मुखारविन्द से श्रद्धा-पूर्वक धर्म श्रवण करना ही है। इस कारण श्रमणोपासक कहा है। दुनियावी धन्धों की विवशता से जब कभी धर्म श्रवण न कर सके, सेवा-भक्ति न कर सके, तब हार्दिक पश्चात्ताप करता है, उसे श्रमणोपासक कहते हैं। धर्म श्रवण करने से ज्ञान बढ़ता है। ज्ञान से श्रद्धा बढ़ती है। श्रद्धा बढ़ने से जीव चारित्र के अभिमुख होता है। आत्म-शुद्धि को चारित्र कहते हैं। आत्म-शुद्धि से निर्वाण प्राप्त होता है।

शंका—ज्ञान सम्यक्त्व का सहभावी एवं अविनाभावी गुण है। अज्ञान मिथ्यात्व का सहभावी विकारी गुण है। जिसे सम्यक्त्व रत्न प्राप्त हो जाता है, उसे ज्ञान तो तभी पैदा हो जाता है। धर्मोपदेश सुनने से ज्ञान होता है तो क्या पहले ज्ञान नहीं था? यदि सुनने से ही ज्ञान होता है, तो सम्यक्त्व के सहभावी ज्ञान का क्या अर्थ हुआ?

समाधान—जब तक जीव में सम्यक्त्व पैदा नहीं होता, तब तक वह अज्ञानी ही बना रहता है। अगर विद्या में चाहे कितना ही प्रवीण हो, परन्तु वह ज्ञान का पात्र नहीं बन सकता। सम्यक्त्व रत्न पैदा होने से ही जीव ज्ञान का पात्र बनता है। क्योंकि उसका लक्ष्य बिन्दु सत्य की ओर हो जाता है, इसी कारण उसे ज्ञानी कहते हैं। परन्तु वह ज्ञान प्रकाश की एक छोटी सी चिनगारी होती है। वह स्वयं महा प्रकाश का पुंज नहीं बन सकती। प्रवचन जन्य ज्ञान भी वही विज्ञान में परिणत हो सकता है, जो अनुप्रेक्षा से अर्थात् निदिध्यासन से परिपक्व हो। उसकी श्रवण मनन और चिन्तन ये तीन भूमिकाएं हैं। इनके बिना निदिध्यासन के शिखर पर नहीं पहुंचा जा सकता। जो ज्ञान, निवृत्ति और प्रवृत्ति रूप में परिणत होने वाला हो, उसी को विज्ञान कहते हैं। सिर्फ ज्ञान मात्र से जीव को इतना लाभ नहीं होता जितना कि विज्ञान से होता है। जिसे प्रयोग में नहीं लाया गया वह ज्ञान कहलाता है। अनुभव सिद्ध ज्ञान को ही विज्ञान कहा जाता है। जैसे कि किसी गायक ने किसी उत्तम गायक से एक गाना सुना जो कि सुनने वाले गायक ने बहुत ही पसन्द किया, परन्तु वह उस ध्वनि को गा नहीं सकता, क्योंकि उसके लिए बिल्कुल नवीन है। फिर वह एकान्त में बैठ कर सुने हुए लहजे को पुनः एकाग्रचित्त से चिन्तन करता है, वही लहजा चिन्तन में आ गया, परन्तु कण्ठ से पकड़ने की कोशिश करते-करते वही गाने का ढंग समयान्तर में उस व्यक्ति को आ सकता है। जब ध्वनि उसे अच्छी प्रकार से आ गई, तो वह गायक महफ़िल में भी गा सकता है। जैसे बारम्बार सुनी हुई ध्वनि को सोचने विचारने से, कण्ठ में

उतारने के प्रयत्न से, वह ध्वनि (तर्ज) बहुत अच्छी आ जाती है। वह ध्वनि कण्ठ में तभी उतरती है, जबकि श्रवण, मनन, चिन्तन क्रमशः आगे बढ़ते हुए निदिध्यासन की परली सीमा तक पहुंच जाती है। वही सुना हुआ ज्ञान, परिपक्व हो जाने से उसे विज्ञान कहते है। इसी प्रकार तात्त्विक ज्ञान के विषय में भी समझना चाहिए। विज्ञान के बिना श्रद्धा दृढ़ नहीं हो सकती।

शंका—श्रमणोपासक के बदले में यदि 'अरिहन्तोपासक' या 'सिद्धोपासक' कहा जाता तो अधिक उचित था, क्योंकि उपासक तो भगवान् का ही होना चाहिए। वैदिक साहित्य में भी हजारों इतिहास इस प्रकार के हैं, जिन्होंने केवल भगवान् की ही उपासना की है—किसी साधु सन्तों की नहीं, तो फिर जैनों में गृहस्थ लोग, श्रमणों की उपासना क्यों करते हैं भगवान् की क्यों नहीं ?

समाधान—भरत क्षेत्र में अरिहन्त भगवान का सद्भाव कदाचित् ही होता है—सदैव नहीं। सिद्ध भगवान् हमारे से सदैव परोक्ष ही रहते हैं। उपासना जितनी प्रत्यक्ष साधक की सफलीभूत होती है, उतनी परोक्ष की नहीं। अतः श्रमण पद में आचार्य उपाध्याय और साधु इन तीनों का समावेश होता है। इनका सद्भाव जब तक संसार में है, तब तक श्रमणोपासक पाए जाते हैं।

श्रमण पद प्राप्त किए बिना अरिहन्त पद भी प्राप्त नहीं होता, श्रामण्य का चरमांश ही अरिहन्त पद है। इस दृष्टि से श्रमण पद अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें चार पद समाविष्ट हैं। तीसरी बात यह है कि श्रमण नाम भगवान महावीर का

भी है। भगवान् महावीर के होते हुए जो एक लाख उनसठ हजार श्रावक थे, वे श्रमण अर्थात् महावीर के उपासक हुए, यह अर्थ भी संगत हो जाता है।

प्रतिमा का कालमान

किसी भी शुभ अनुष्ठान का कालमान अवश्यमेव होता है, फिर चाहे वह अल्प समय का हो या जीवन पर्यन्त का। किसी भी प्रतिज्ञा का पालन करना समय सापेक्ष ही हो सकता है—निरपेक्ष नहीं। प्रतिमा का अर्थ भी प्रतिज्ञा ही है, भिक्षुओं की बारह प्रतिज्ञाएँ होती हैं और उपासकों की ११ प्रतिमाएं, प्रत्येक प्रतिमा का कालमान 'दशाश्रुतस्कन्ध' में सविस्तृत है, किन्तु पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा की समाप्ति तक कितना समय लगता है? यह अभी तक विवादास्पद ही रहा। हमने इसी गुत्थी को सुलझाना है। इस विषय में प्राचीनकाल से दो धाराएं बह रही हैं। उनमें एक परम्परा तो ऐसी चली आ रही है कि ग्यारह प्रतिमाओं का कुल समय ग्यारह मास है, अर्थात् पहली प्रतिमा से लेकर ११वीं प्रतिमा तक कुल समय ११ मास ही होता है, जैसे कि पहली प्रतिमा एक मास की, दूसरी दो मास की, एवं तीसरी तीन मास की। पहली प्रतिमा का कालमान दूसरी में मिला देने से दो मास हो जाते हैं, एवं तीसरी में एक नया महीना (दो महीने पहली और दूसरी प्रतिमा के) मिलाकर तीन महीने हो जाते हैं, एवं दसवीं प्रतिमा में ९ महीने पहले के और एक दसवां महीना

सब मिलाकर दसमास हो जाते हैं। ११वीं प्रतिमा में १० पहले के महीने और एक नया महीना मिला देने से ग्यारह मास हो जाते हैं।

उनके पास युक्ति प्रमाण यह है कि एक व्यक्ति ने आज उपवास किया है, उसे उपवास ही कह सकते हैं। दूसरे दिन उसने फिर आहार का त्याग किया है, तो कहने में आता है कि आज इसके बेला है, तीसरे दिन फिर परिणाम बढ़ने से आहार का त्याग किया, अब कहा जाता है कि इसने तेला, किया हुआ है, इसी प्रकार बढ़ते हुए क्रमशः जिसने दस का थोकड़ा कर लिया। फिर उसके परिणाम बढ़े कि मैंने ११ का थोकड़ा करना है, बस फिर क्या था चौबीस भक्त का प्रत्याख्यान गुरुदेव से कराकर ग्यारह का थोकड़ा पूरा करके पारणा कर लिया। उस थोकड़े में उपवास, बेला, तेला, चौला, पंचोला, छोला, सतोला, अट्ठाही आदि सभी का समावेश हो गया, एवं एक नया महीना और दस महीने पहले के, इस क्रम से ११ प्रतिमाओं में कुल समय ११ महीने ही लगते हैं, अधिक नहीं। इसी को पुष्ट करने के लिए दूसरा प्रबल प्रमाण यह देते हैं कि—

भिक्षु की १२ प्रतिमाएं होती हैं। पहली मासिक, दूसरी दो मासिक एवं यावत् सातवीं सात मासिक होती है। पौने आठ महीने में बारह प्रतिमाओं की आराधना की जाती है। दूसरी प्रतिमा दो महीने की है, एक नया महीना पहले महीने के साथ मिला देने से दो मासिक भिक्षु प्रतिमा कहलाती है, एवं यावत् छह: महीने पहले के और एक नया महीना जोड़ देने से सातवीं सात मासिक भिक्षु प्रतिमा

कहलाती है। इससे भी यही सिद्ध होता कि उपासक प्रतिमा का सम्पूर्ण कालमान ११ महीने का होता है।

तीसरा उदाहरण—युधिष्ठिर आदि पांच पाण्डवों को दो महीने का संथारा आया है। ऐसा ज्ञाता सूत्र के १६वें अध्ययन से विदित होता है। कथा इस प्रकार है कि युधिष्ठिर आदि पांच पाण्डव मुनि पुङ्गवों ने मासक्षमण तप करने का अभिग्रह लिया हुआ था। एक बार वे अरिष्टनेमि भगवान् के दर्शनों के लिए उधर जा रहे थे—जिधर भगवान् विचर रहे थे। पारणेवाले दिन भगवान् के निर्वाण होने का विश्वस्त सूत्रों से ज्ञात हुआ, तो पारणा किये बिना ही पर्वत पर चढ़ कर संथारा कर लिया।

एक महीना तप का दूसरे महीने के अन्तिम दिन संथारा सीझा है, दोनों महीनों को मिलाकर दो महीने का संथारा कहलाया, इससे भी उपर्युक्त मान्यता सत्य साबित होती है।

दूसरी परम्परा

पहली प्रतिमा का जो कुछ अनुष्ठान है, उसे एक महीने तक निरन्तर निरतिचार सम्यग्दर्शन की आराधना करना, इसके साथ जो भी नियम उप-नियम है, उन सभी का यथाशक्य निरतिचार पालन करना एवं दूसरी पडिमा के जो नियम उप-नियम हैं, उन सब का निरतिचार निरन्तर दो महीने तक पालन करने का विधान है। इसी प्रकार तीसरी प्रतिमा के नियम उपनियमों का निरन्तर तीन मास पर्यन्त आराधना करने का है। इसका पहली और दूसरी प्रतिमा तक के तीन

महीनों को छोड़कर अनुष्ठान किया जाता है। इसी प्रकार से ११वीं प्रतिमा का पालन निरन्तर ११ महीनों तक किया जाता है। इस गणना के अनुसार पहली प्रतिमा से लेकर ११वीं प्रतिमा तक कुल समय साढ़े पांच वर्ष लगते हैं, यह प्रतिमाओं का उत्कृष्ट कालमान है।

मतभेद, जघन्य तथा मध्यम कालमान के विषय में नहीं है, बल्कि उत्कृष्ट कालमान के विषय में है। किसी भी प्रतिमा का जघन्य कालमान एक दिन है। मध्यम कालमान २ दिन ४ दिन यावत् उत्कृष्ट से कुछ दिन न्यून, यह है जघन्य तथा मध्यम प्रतिमा का कालमान।

अतः उत्कृष्ट कालमान की धारणा को स्पष्ट करना ही दूसरी परम्परा का परम कर्त्तव्य है।

दूसरी परम्परा की धारणा है कि—

आगमों मे ११ प्रतिमाओं का कुल जोड़ कितना बैठता है? इसका उल्लेख किसी भी आगम मे नहीं है। इसी कारण यहां धारणा व्यवहार का अवतरण होता है। जो व्यक्ति ग्यारह पडिमाओं की कुल अवधि ११ मास की बताते हैं, वे भिक्षु पडिमा का आधार लेते हैं। भिक्षु पडिमा वहन करने मे कुल समय पौने आठ महीने लगते हैं, क्योंकि साधक चातुर्मास की समाप्ति पर अपने धर्माचार्य से आज्ञा लेकर पडिमावहन करने के लिए एकल विहारी होते हैं और चातुर्मास के प्रारम्भ में ही अपने धर्माचार्य के संघ मे मिल जाते हैं।

क्योंकि पडिमावहन करने वाले को शीत तप, और ग्रीष्म में आतप तप अर्थात् आतापना लेना इन दोनों का विधान है। चातुर्मास में उक्त दोनों का अभाव-सा रहता है।

अतः भिक्षु की बारह प्रतिमाएं पांच आठ महीनों में ही उन्हें समाप्त करनी पड़ती है।

दूसरी बात यह है कि भिक्षु प्रतिमाओं का जघन्य तथा मध्यम कालमान नहीं है, बल्कि उत्कृष्ट कालमान का विधान है। उपासक प्रतिमा में तीनों प्रकार का नियम है। भिक्षु की पहली प्रतिमा से लेकर सातवीं प्रतिमा तक क्रिया में कोई अन्तर नहीं है। जो क्रिया पहली प्रतिमा में है, वही आगे की ६ प्रतिमाओं में है। अन्तर सिर्फ इतना है कि भोजन और पानी की दत्तियों की संख्या बढ़ती जाती है, अर्थात् सातवीं प्रतिमा में ७ दत्ति भोजन की और ७ दत्ति पानी की लेनी कल्पता है—इससे अधिक नहीं। पहली में सिर्फ एक दत्ति भोजन की और एक दत्ति पानी की, इससे अधिक नहीं। शेष नियम उपनियम सातों प्रतिमाओं में तुल्य है—न्यून अधिक नहीं। किन्तु उपासक प्रतिमा में उत्तरोत्तर साधना में विशेषता पाई जाती है। इसलिए उपासक प्रतिमाओं की भिक्षुप्रतिमा की तरह मासों की गणना करना उचित नहीं जान पड़ता। उपासक प्रतिमा का सम्पूर्ण कालमान साढ़े पांच वर्ष युक्ति संगत सिद्ध होता है। उपासकदशांग सूत्र से भी यही सिद्ध होता है कि आनन्द गाथापति आदि श्रमणोपासकों ने पडिमाओं की आराधना में साढ़े पांच वर्ष व्यतीत किये हैं।

उपासक दशांग सूत्र में ऐसा कोई उल्लेख या संकेत नहीं है जिससे यह सिद्ध हो सके कि उन्होंने ६ बार ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना की है।

क्या छः-छः बार प्रत्येक प्रतिमा की आराधना—पालना की है ? या ११वीं प्रतिमा की ही छः बार आराधन पालन किया

है ? इत्यादि अनेकों प्रश्न उत्पन्न होते हैं। यदि पहले पक्ष को सत्य माने तो क्या आनन्द आदि श्रमणोपासकों ने ११ प्रतिमाओं की क्रमशः आराधना करके—ग्यारह महीने पूरे करके फिर पहली प्रतिमा में उतरे हों ? जबकि उनमें संथारे में भी श्रद्धा, धृति, संवेग आदि समुज्ज्वल थे, तो पुनः पहली प्रतिमा में आने का अन्य तो कारण नहीं हो सकता। ११ प्रतिमाएँ आराधने के पश्चात् ही उन्होंने संथारा किया, ऐसा उपासक-दशाङ्ग सूत्र से ज्ञात होता है। ऐसा किसी आगम का उल्लेख नहीं है कि आनन्द आदि श्रावकों ने ग्यारह प्रतिमाओं को छः बार आराधा और पाला हो।

ऐसा भी नहीं लिखा कि उन्होंने ग्यारहवीं प्रतिमा को ही ६ बार आराधा और पाला हो।

यदि कोई किसी पडिमा की आराधना एक दिन भी करना चाहता हो, तो उसके लिए छूट है—कर सकता है। यदि कोई प्रतिमा किसी की शक्ति के अनुसार अभीष्ट हो, तो उसे २ महीने करके यावज्जीव भी धारण तथा पालन कर सकता है। जैसे कार्तिक सेठ ने पांचवीं प्रतिमा को सौ बार धारण की, इसी कारण शक्रेन्द्र को शतक्रतु कहते हैं।

प्रतिमा में तप का विधान

परम्परागत धारणाएं कुछ मूल स्पर्शी होती हैं और कुछ निर्मल हो। धारणा उसे कहते हैं जिस से विरोध का परिहार होता हो। जहां ग्रन्थकर्ता के सूत्रों में विरोध प्रतीत होता हो और वास्तव में विरोध न हो, वहां धारणा से काम लेना

पड़ता है। धारणा यदि सत्य हो तो उसमें विरोध परिहार हो जायगा। असत्य का अन्धकार वहीं तक रह सकता है—जहां तक सत्य स्वयं न प्रकट हो। असत्य धारणा असत्य ही रहती है, फिर चाहे उसे कितना ही चमकाया जाय।

कुछ लोगों की ऐसी धारणा चली आ रही है कि पहली प्रतिमा प्रतिपन्न श्रावक साधक को एकान्तर उपवास करना पड़ता है, वह भी निरन्तर एक मास पर्यन्त। तत्पश्चात् दूसरी प्रतिमा प्रतिपन्न श्रावकों को दो मास पर्यन्त बेले बेले पारणा करना पड़ता है, एवं तीसरी प्रतिमा में तीन मास तक तेले तेले पारणा, इसी क्रम से ११वीं प्रतिमा में, ग्यारह महीनों तक ग्यारह ग्यारह थोकड़े का पारणा करना पड़ता है। इस धारणा का कोई आधार नहीं है, इसे हम सूत्रस्पर्शी धारणा नहीं कह सकते।

यदि कोई कहे कि आनन्द आदि श्रमणोपासकों ने प्रतिमा-वहन करते हुए इतना घोर तप किया, जिससे उनका शरीर अतिकृश और दुर्बल हो चुका था, इससे तप की सिद्धि होती है; परन्तु यह कथन अपेक्षाकृत सम्यग् नहीं है। क्योंकि प्रतिमा वहन करने से उत्तरोत्तर वृत्ति का संक्षेप होता है। उत्तरोत्तर वृत्ति संक्षेप का होना तप है। लगभग ५ वर्ष वृत्ति संक्षेप करने से खाद्य पदार्थ शरीर में कम पहुंचने से शरीर स्वयं दुर्बल हो जाता है और साथ ही पौषध वगैरा भी पर्व दिनों में निरन्तर करते ही रहे। दूसरी बात यह है कि संभव है उन्होंने अन्य किसी प्रकार से भी तप किया हो? जिस तरीके से उन्होंने तप किया है, उसका उल्लेख सूत्र में नहीं है।

तीसरी वात यह है कि उन्होंने गत १४ वर्ष में जो भी धर्म की आराधना की है, उससे उनकी तृप्ति नहीं हुई। उनमें धर्म की भूख अधिक थी। श्रद्धा धृति संवेग अधिक होने से उन्होंने श्रावक की वृत्ति उत्कृष्ट पालन की है। यदि कोई व्यक्ति अधिक तप करता है तो वह दूसरों के लिए नियम नहीं वन जाता। व्याख्याप्रज्ञप्ति में वरुणनागनत्तुये का उल्लेख सुस्पष्ट है। उसने यावज्जीव तक वेले वेले पारणा करने की प्रतिज्ञा ली और उसे सुख पूर्वक पालन भी किया। इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिये कि जो कोई वारह व्रत धारण करेगा, उसे वेले वेले पारणा करना भी आवश्यक होगा।

काकन्दी के धन्ना अणगार ने वेले वेले पारणा करने का भगवान की साक्षी से प्रण लिया था और पारणे वाले दिन 'उज्झियधम्मिय' आहार लेना—ऐसा भी प्रण लिया, और उसे बहुत अच्छी तरह पालन किया, एवं धर्मरुचि अणगार ने महीने महीने पारणा करने का प्रण लिया और उसे हर्ष पूर्वक पालन किया। गौतम स्वामी ने वेले वेले तप—निरन्तर घनघातिक कर्मों के क्षय होने तक किया। यह नियम उनका अपना व्यक्तिगत था न कि समाजगत था, इत्यादि उदाहरण श्रावक और साधुओं के लिये आदर्श अवश्य है। यदि किसी की भावना और शक्ति हो तो उनके पद चिन्हों पर चलना ही चाहिए परन्तु यह सब के लिये नियम नहीं वन जाता है। पांच महाव्रत धारण करते समय शिष्य को यह प्रतिज्ञा नहीं कराई जाती कि एकान्तर या वेले २ पारणा तुम्हें अवश्य करना पड़ेगा। ऐसा विधान न तो आगमों में ही कहीं है और न ही गुरु सूचित करते हैं। सामाजिक नियम

क्या प्रतिमा-वहन घर में भी हो सकता है?

यह आवश्यक नहीं है कि प्रतिमाओं का धारण-पालन, आनन्द आदि की तरह घर व्यापार आदि छोड़ कर— अलग-थलग होकर और पौषधशाला में रहकर घर के तथा दुकान आदि के किसी भी काम में दखल न देते हुए प्रतिमाओं की आराधना प्रारंभ की जाय। प्रत्युत यह है कि आनन्द आदि श्रमणोपासकों का किया हुआ आचरण दूसरों के लिए कोई सिद्धान्त नहीं बन जाता। हां, ऐसा करने की किसी में सामर्थ्य हो, तो करे, इससे सिद्धान्त में कोई दोषापत्ति नहीं आती। यह तो उत्कृष्ट वृत्ति है, किंतु सब की श्रद्धा, धृति, संवेग, सामर्थ्य एकसा नहीं होता।

पहली प्रतिमा का आराधक तो अविरतिसम्यग्दृष्टि भी हो सकता है। पहली से लेकर पाँचवीं प्रतिमा तक का आराधन, घर में रह कर भी किया जा सकता है, घर में रहने का इसमें कोई निषेध नहीं है। क्योंकि पांचवीं प्रतिमा में नियम है कि दिन में स्त्रीप्रसंग का त्याग करे और रात्रि का परिमाण करे। इससे जाना जाता है कि पहली से लेकर पांचवीं तक जितनी प्रतिमाएं हैं, उनकी आराधना घर में रह कर भी हो सकती है, उनमें कोई ऐसा विधान नहीं है, जिससे आनन्द आदि की तरह घरेलु मामलों से सर्वथा अलग होकर पौषधशाला में रहकर ही हो सकती हो।

छठी से लेकर नौवीं प्रतिमा तक के साधक को घर में रहना आवश्यक नहीं है। वह प्रतिमाओं की आराधना करते हुए, धर्म प्रचार, समाज सेवा, चतुर्विध श्रीसंघ की वैयावृत्य भी कर सकता है। आज के युग में ऐसे प्रतिमाधारी

श्रावक से लेकर पांचवीं प्रतिमाधारी श्रावक पर्यन्त जितने भी हैं, वे गृहस्थ का जो भी सामान्य वेष होता है—जोकि प्रतिदिन रखता है, उसी वेष में भी प्रतिमा की आराधना कर सकता है, हां, सामायिक शिक्षाव्रत की आराधना के समय धर्मवेष रखता है, शेष समय में यदि वह गृहस्थ वेष में रहता हो, तो उसमें भी रह सकता है। क्योंकि वह गृहस्थ की सभी प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति का सर्वथा त्यागी नहीं है। वह बाह्य आरम्भ आदि सावद्य प्रवृत्ति करता भी है, कराता भी है, एवं अनुमोदना भी करता है। क्योंकि उसकी प्रवृत्ति संयतासंयत रूप ही होती है।

छठी प्रतिमा से लेकर नौवीं प्रतिमा तक के जो श्रावक हैं उनका वेष अन्य गृहस्थों से कुछ विलक्षण ही होना चाहिये, जो कि त्याग का परिचायक हो जैसे कि—ब्रह्मचारियों का वेष होता है। १०वीं प्रतिमाधारी श्रावक का वेष, ब्रह्मचारी से भी विलक्षण त्याग का परिचायक होना चाहिये।

किन्तु ग्यारहवीं प्रतिमाधारी का वेष एवं बाह्य लक्षण सब कुछ उसका श्रमण निर्ग्रन्थ जैसा ही होता है और आन्तरिक रूप से भी बहुत कुछ मिलता जुलता होता है इसीलिये उसे श्रमणभूत कहते हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी के लिए पहली प्रतिमा

जिस व्यक्ति को क्षायिक—सम्यक्त्व अथवा औपशमिक—सम्यक्त्व हो, वह पहली प्रतिमा धारण नहीं करता, क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व में अतिचार लगने का कोई प्रश्न ही नहीं

हो सकता, इसमें शंका आदि पांच अतिचार बिल्कुल नहीं लगते। औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। वह मासिक प्रतिमा कैसे धारण कर सकता है? अतः क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी के लिये ही पहली प्रतिमा की आराधना करना अत्यन्त लाभप्रद हो सकता है। क्योंकि उसमें सम्यक्त्व दर्शन-मोह की प्रकृति उदय रहती है।

सम्यक्त्व मोह, सम्यक्त्व को मलिन करने वाला है। सम्यक्त्व समल होने से अतिचारों का सूत्र-पात आरम्भ हो जाता है। सम्यक्त्व मोह तो मिथ्यात्व मोह का ही विशुद्ध अंश है। सम्यक्त्व अधिक मलिन हो जाने से, मिथ्यात्व मोह के उदय होने के लिये सहयोग मिल जाता है। जैसे निर्मल दर्पण, बाफ (भाप) से समल हो जाता है, इसी प्रकार शंका आदि पांच दूषणों से सम्यक्त्व रूपी दर्पण मलिन हो जाता है। इसी कारण क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनसम्पन्न श्रावक, मासिकप्रतिमा अंगीकार करता है। सुदुर्लभ सम्यक्त्व रत्न को दर्शन मोह से सर्वथा सुरक्षित रखना—किसी भी तरह से वह मलिन न होने पाए, इस बात का हर समय में ध्यान रखे, क्योंकि सम्यक्त्व रूपी नींव (आधारशिला) जितनी मजबूत और दृढ़ होती है, उतनी व्रतों की—नियम पच्चक्खाण, मूलगुणों तथा उत्तरगुणों की मंजिल अधिक टिकाऊ हो सकती है। नींव हिल जाने से जैसे बड़ी-बड़ी इमारत भी हिल जाती है और गिर जाती है, इसी प्रकार सम्यक्त्व दूषित या लुप्त हो जाने से सभी मूलगुण और उत्तरगुण विनष्ट हो जाते हैं।

ज्यों-ज्यों साधक का सम्यक्त्व निर्मल होता है, त्यों-त्यों

वह आत्मा के अभिमुख होता जाता है, यही उसकी स्वभाव परिणति है।

सम्यक्त्व मलिन हो जाने से विभाव परिणति के गर्त्त में गिरने की पूरी-पूरी सम्भावना रहती है। इसलिये निरतिचार पालन करना ही अधिक श्रेयस्कर है, अतः पहली प्रतिमा उपासक की दर्शनविशुद्धि है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी उपासक के लिये पहली प्रतिमा अधिक लाभप्रद है।

सामग्री की अनुकूलता

श्रावक वृत्ति में अन्तरंग कारण प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क के क्षयोपशम जन्य अध्यवसाय है। जितना क्षयोपशम अधिक होगा उतना ही चारित्राचारित्र उज्ज्वल होगा। क्षयोपशम सबका समान नहीं होता। जल में जितना गन्धलापन कम होगा उतना ही प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ होगा। जैसे बड़ी वस्तु का प्रतिबिम्ब छोटे दर्पण में छोटा होता है, और बड़े दर्पण में बड़ा, एवं जितना क्षयोपशम होता उतनी ही चारित्राचारित्र की विशुद्धि होती है।

जिन गुणस्थानों में कषाय का सर्वथा अभाव ही है, उनमें संयम के भेद नहीं होते, वहां संयम एकाकार ही होता है। जहां कषाय का उदय यत्-किंचित भी हो, वहां संयम की पर्याय छट्ठाणवडिया होती है। अर्थात् वहां षाड्गुण्य हानि वृद्धि पाई जाती है और तदनुकूल ही द्रव्य क्षेत्र और काल की अनुकूलता होती। इसीको बाह्य सामग्री कहते हैं तथा निमित्त कारण भी।

सम्यग्दृष्टि के परिणाम और उसका लक्ष्य

जो सम्यग्दृष्टि होता है, वह नियमेन जीव, अजीव पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—इन नवतत्त्वों का स्वरूप भली भांति जानता है। और इन पर श्रद्धान भी करता है। सत् को सत् रूप में और असत् को असत् रूप में श्रद्धान करता है। वस्तुतः केवलिभाषित धर्म ही कार्य-साधक है, वही आत्मशुद्धि का अमोघ साधन है, शेष सब कुछ अनर्थरूप है। जैसी वस्तु है, उसे वैसी ही मानता है। हिंसा को हिंसा समझता है उसे धर्म नहीं मानता। वह शान्ति, क्षमा, अहिंसा सत्य, इमानदारी, सदाचार, सन्तोष इत्यादि सद्गुणों का ही अनुरागी होता है। वस्तुतः देखा जाए तो सम्यग्दृष्टि ही सच्चा आस्तिक होता है।

१. *वह आहितवादी होता है*—जो स्व पर का हित दृष्टि-गोचर रखते हुए वचन बोलता है वह भी प्रिय मधुर एवं सत्य—उसे आहितवादी कहते हैं। वह पूछने पर शत्रु को भी सत्य शिक्षा देता है, फिर चाहे वह शिक्षा व्यवहारिक रूप में अपने लिए भले ही हानिकारक हो, परन्तु वह सत्य को छिपाता नहीं है। जैसे युधिष्ठिर ने दुर्योधन को सत्य की शिक्षा दी, उसके पूछने पर विजय का उपाय बताया।

२. *वह आहितप्रज्ञ होता है*—जिसकी प्रज्ञा वास्तविक रूपेण स्व पर हित से ओतप्रोत हो, जिसकी सात्विक बुद्धि हो, उसी को आहितप्रज्ञ कहते हैं।

३. *वह आहितदृष्टि होता है*—जिसकी दृष्टि वास्तविक हित की ओर प्रवृत्त है, उसे आहितदृष्टि कहते हैं। उसकी दृष्टि पारमार्थिक होती है।

परिपक्व अवस्था ही विज्ञान है और विज्ञान चारित्र का सहायक है।

पूर्व पूर्व प्रतिमाएं उत्तरोत्तर प्रतिमा की पूरक एवं पोषक है। जैसे—विद्यार्थी आगे का पाठ कंठस्थ करता है और पहले पढ़े हुए की स्मृति रखता है- उन्हें भूलता नहीं है, इस क्रम से यदि आगे बढ़ता है, तो वह एक दिन बहुत ही उच्चकोटि का विद्वान बन जाता है। जो आगे का पाठ तो कण्ठस्थ करता रहे और पीछे का भूलता जाए तो वह प्रगति नहीं कर सकता, यही क्रम प्रतिमाओं के विषय में भी समझना चाहिए। जिस से क्रमिक विकास हो सके वही साधना साधक के लिए सुप्रशस्त हो सकती है।

जैन धर्म विवेक सहित की गई क्रिया को ही महत्त्व देता है। विवेकहीन क्रिया चाहे कितनी कठोर क्यों न हो वह नगण्य है। इस क्रिया को अज्ञानकष्ट या बाल तप भी कहते हैं। उनका उल्लेख करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। सम्यग् ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप इनकी आराधना वाणप्रस्थ श्रावक कैसे कर सकता है? यह आगे पढ़ने से विदित होगा।

पहला सोपान

पहली मासिकप्रतिमा—दर्शनश्रावक

ग्यारह प्रतिमाओं में पहली प्रतिमा दर्शन श्रावक है अर्थात् जो श्रमणों के साक्षात् दर्शन करके उनके मुखारविन्द से श्रद्धापूर्वक जिनवाणी सुनता है, उसे दर्शन श्रावक कहते हैं। इसके विचार जिनवाणी सुनने से सुलझे हुए तथा निखरे हुए होते हैं। सूत्रपाठ है सव्वधम्मरुइयावि भवइ, अर्थात् वह सर्वधर्मों में रुचि रखता है, इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि विश्वभर में जितने दर्शन हैं—जितनी मान्यताएँ हैं उन सब में रुचि रखे। यह अर्थ मिथ्यादृष्टि के लिए मान्य हो सकता है—सम्यग्दृष्टि के लिए नहीं। जिसे विशुद्ध भोजन मिल रहा हो वह कीचड़ से लिप्त या रेत से सना हुआ भोजन क्यों खाने लगा, परन्तु जिसे विशुद्ध भोजन न मिल रहा हो, यदि वह उसे किसी प्रकार साफ करके अपनी क्षुधा को शान्त करने के लिए खा जाए तो कोई हानि नहीं है। एवं पिपासु को यदि विशुद्ध-स्वच्छ, शीत, सुस्वादु नीर मिल रहा हो, तो गन्दे जल को कौन पिए? हां यदि उक्त प्रकार का पेय जल न मिल रहा हो तो गन्दे जल को भी शुद्ध करके पीना ही पड़ता है। एवं जिसको केवलिभाषित विशुद्ध निर्ग्रन्थ धर्म मिल रहा हो, उसे क्या आवश्यकता है मिथ्यादृष्टियों के मार्ग का अनुसरण करने की?

जब विशुद्ध धर्म, साक्षात् न मिल रहा हो, तब सम्यग्दृष्टि इतर दर्शनों में से जीवनोपयोगी अंशों को छोड़ देता है।

सभी महजवों पर श्रद्धा-रुचि रखना सम्यक्त्व नहीं, बल्कि धर्म के अगणित अंग[1] हैं, उन सब में श्रद्धा-रुचि का होना अनिवार्य है। पालन उतना ही हो सकता है जितनी शक्ति होती है। धर्म के सर्वाङ्ग से ही निर्वाण हो सकता है, कुछ अंगों से नहीं। जहां तक शरीर में शक्ति है, वहाँ तक धर्म के अनेक अंगों की आराधना करता रहे। शेष धर्म के अङ्गों में रुचि रक्खे, यह है उक्त पद का अर्थ। एक मास पर्यन्त विशेष रूप से सम्यग् ज्ञान की आराधना करना परम आवश्यक है क्योंकि सम्यग्ज्ञान की आराधना से सम्यग्दर्शन भी निर्मल होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक दूसरे के पूरक और पोषक हैं। गृहस्थ जीवन अनेक झंझटों से घिरा हुआ है, यदि किसी को अवसर मिले तो मासपर्यन्त निरन्तर सम्यग्दर्शन को उत्तरोत्तर निर्मल करे, निर्मलता निरतिचार से ही हो सकती है, निरतिचार का होना सम्यग्ज्ञान के बिना नहीं हो सकता।

सम्यक्त्व के अतिचार पांच हैं, उनका सेवन या आचरण न करना ही निरतिचार सम्यक्त्व है।

दर्शन श्रावक का उत्तरदायित्व

१. *निस्संकिए*—जिनवचन में शंका न करना, अथवा नवतत्वों पर दृढ़ श्रद्धा रखना, सप्तनय, सप्तभंगी, निक्षेप, प्रमाण, लक्षण, अनेकान्तवाद, ये सब पदार्थों को जानने के उत्तम उपाय हैं।

इनमें श्रद्धा रखना। मोक्ष और मोक्ष के उपाय जो जिन भगवान ने प्रतिपादन किए हैं, उन पर निःशंकित रहना।

१ सर्व धर्म अर्थात्—क्षमा, निर्लोभता संवर तप आदि धर्म।

का फल अपने और अपने साथियों के लिए मांगे तथा न उनके द्वारा शत्रु आदि का अहित चाहे। कर्मफल के प्रति कामना न रखे, बल्कि कर्मक्षय की भावना रखे, क्योंकि जो कर्मों का फल चाहता है—वह कर्मनिर्जरा नहीं चाहता, अतः दर्शन श्रावक कर्मनिर्जरा चाहता है—कर्म फल नहीं। फल चाहने वाला उन्हें क्षय नहीं कर सकता, इसी कारण उक्त अतिचार का सेवन वर्जित है।

४. पर-पासंडीअपसंसा—पर दर्शनियों की प्रशंसा न करना, जैसे परस्त्रीलंपटी, दुराचारी पुरुष की प्रशसा पतिव्रता सती नहीं करती, एवं पति परपुरुषगामिनी कुलटा स्वैरिणी आदि की प्रशसा नहीं करता, जैसे दयालु, शिकारी की, सत्यवादी झूठे की, इमानदार बेइमान की, सन्तोषी लोभी की, न्यायवान अन्यायी की प्रशंसा नहीं करता, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा नहीं करता।

अवगुणी की प्रशंसा करने से वे ही अवगुण अपने में प्रवेश कर जाते हैं, एवं परदर्शनी की प्रशंसा करने से अपने में मिथ्यात्व का प्रवेश हो जाता है। मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करने से मिथ्यात्व के अनुमोदन का दोष लगता है। सुनने वाले के मन में उसके प्रति श्रद्धा बढ़ जाती है। प्रशंसनीय पुरुष का मन प्रशंसा सुन कर मिथ्यात्व में दढ़तर हो जाता है। जितनी देर तक वह गुमराह रहेगा, उसका दोषी प्रशंसक भी बन जाता है।

अतः परदर्शनी की—जो धर्म उसने माना हुआ है, या जो मान्यता उसने बना रखी है, उससे सम्बन्धित जो भी क्रिया

दूसरा सोपान

कृतव्रतकर्म

दूसरी प्रतिमा

जब श्रावक दर्शन विशुद्धि करने में सफल हो जाता है तब वह आगे बढ़ने का अधिकारी बन सकता है। क्योंकि सम्यक्त्व साधना जितनी विशुद्ध होगी, उतनी ही व्रतों की विशुद्ध आराधना हो सकेगी-अन्यथा नहीं।

व्रतों की आराधना करने के लिए एक अन्तरंग और असाधारण कारण है—चारित्र मोह की २५ प्रकृतियों में अप्रत्याख्यान कषाय चतुष्क का क्षयोपशम। वह जब तक उदय रहेगा, तब तक क्षायिक सम्यक्त्व होते हुए भी व्रत नहीं धारण कर सकता है, एवं देशव्रती बनने के लिए तदा-वरण का क्षयोपशम होना अनिवार्य है। यह एक निश्चित सिद्धान्त है। उसका जितना क्षयोपशम होगा उतना ही व्रत धारण कर सकता है। यदि उस मात्रा से अधिक व्रत धारण करने का प्रयास कोई करेगा तो सातिचार हो पलेगा और अनाचार की भी संभावना हो सकती है। समवायांग सूत्र में दूसरी पडिमा का नाम निर्देश करते हुए अरिहंत भगवान ने प्रतिपादन किया है—

'कयवयकम्मे'—जिसने द्वादश विध गृहस्थ धर्म अंगीकार कर लिया है। दूसरी पडिमा में साधक चारित्र शुद्धि की ओर झुककर कर्म क्षय का प्रयत्न करता है। वह बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण व्रत, प्रत्याख्यान और

अणुव्रत की व्याख्या और उसके भेद।

'अणु' का अर्थ यहां परमाणु नहीं बल्कि इसका अर्थ है "छोटा"। अणु यदि न हो तो महान् की कल्पना नहीं की जा सकती एवं महान् से ही अणु की कल्पना की जाती है। यदि किसी के एक ही पुत्र हो तो उसे ज्येष्ठ-कनिष्ठ नहीं कहा जा सकता है—

जैसे नौ मंजिली कोठी की अपेक्षा दो मंजिली कोठी अणु है और नौ मजिली कोठी महान् है। इसी प्रकार सर्वविरति महान् है, क्योंकि जिन व्रतों को वह धारण करता है वह महान् ही धारण करता है। इसलिए उन व्रतों को महाव्रत कहा जाता है। सर्व विरति छट्ठे गुणस्थान से आरम्भ होती है और चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण हो जाती है। इसी कारण सर्व विरति नौ मजिल का महाहर्म्य है।

श्रावक विरति दो मंजिली कोठी है जो कि चौथे गुणस्थान से आरम्भ होती है और पांचवे गुणस्थान में सम्पूर्ण हो जाती है। दूसरी पडिमा से लेकर ग्यारहवीं पडिमा तक पाँचवाँ गुणस्थान ही रहता है, अणुव्रत का अर्थ होता है "छोटा व्रत"। 'व्रत' का अर्थ होता है निवृत्तिभाव। जो व्रत अणु हो उसको अणुव्रत कहते हैं। चार कारणों से व्रत अणु और महान् हो सकता है। अणु के समझने से महान् स्वयं जाना जा सकता है, वे कारण निम्नलिखित हैं :—

१ द्रव्यतः अणुव्रत, २. क्षेत्रतः अणुव्रत,
३. कालतः अणुव्रत, ४. भावतः अणुव्रत

जिसमें आस्रव की अपेक्षा संवर स्वल्प हो, असंयम की अपेक्षा संयम एवं अपच्चक्खाण की अपेक्षा पच्चक्खाण स्वल्प हो—अणु हो, उसे द्रव्यतः अणुव्रत कहते हैं।

जिस सीमित क्षेत्र में देश विरति रहा हुआ है, उसमें आस्रव की अपेक्षा संवर का क्षेत्र अणु है, इस कारण व्रत को क्षेत्रतः अणुव्रत कहा है।

देश विरति का काल-मान अधिकतर आस्रव में व्यतीत होता है, संवर में व्यतीत होने का काल-मान स्वल्प होने से कालतः अणुव्रत कहा जाता है। चारित्रमोह के अप्रत्याख्यान, कषाय-चतुष्क के क्षयोपशम से देशविरति की आराधना की जाती है। देश विरति का कालमान अधिकतर आस्रव में व्यतीत होता है, संवर में व्यतीत होने का कालमान स्वल्प होने से कालतः अणुव्रत कहा जाता है।

चारित्रमोह के अप्रत्याख्यान कषाय चतुष्क के क्षयोपशम से देशविरति की आराधना की जाती है, इसमें उदय भाव की अपेक्षा क्षयोपशम भाव स्वल्प होने से भावतः अणुव्रत कहा जाता है।

पातंजल दर्शन के दूसरे पद के ३१ वें सूत्र में कहा है—जो जाति अवच्छिन्न, देशावच्छिन्न, कालावच्छिन्न, समयावच्छिन्न से, अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह धारण किया जाय, उसी को अणुव्रत कहते हैं। जो जाति, देश, काल, समय अनवच्छिन्न उपर्युक्त व्रत धारण किये जायें, उन्हें सार्वभौम महाव्रत कहते हैं। इनकी व्याख्या आगे की जाएगी।

अणुव्रत को शीलव्रत भी कहते हैं। आत्मस्वभाव को शील कहते हैं, अर्थात् जिस व्रत की आराधना करने से आत्मा

विभाव परिणति से निवृत्त होकर अपने स्वरूप में आ जाय, उसे शीलव्रत कहते हैं। इसको मूल गुण भी कहते हैं, अर्थात् जो आत्म विकास करने में मौलिक तथा असाधारण गुण हो, उसे मूल गुण कहते हैं।

अणुव्रत पांच भागों में विभक्त हैं, जैसे कि :—

१ स्थूल प्राणातिपात विरमण।
२ स्थूल मृषावाद विरमण।
३ स्थूल अदत्तादान विरमण।
४ स्वदार सन्तोषित व्रत।
५ इच्छा परिमाण व्रत।

श्रावक का अहिंसा व्रत

श्रमण भगवान महावीर के अनुयायी दो वर्गों में विभक्त हैं। श्रमण (साधु) और श्रमणोपासक (श्रावक) वर्ग, जिन्हें सर्व विरति और देश विरति भी कहते हैं, ये दोनों ही वर्ग भगवान महावीर स्वामी के वताए हुए पथ के पथिक हैं। उपर्युक्त दोनों मार्ग सुप्रशस्त निर्जरा के हेतु और सब दुःखों का अन्त करने वाले हैं।

प्रभु महावीर ने श्रमण वर्ग के लिए ५ महाव्रतों और श्रावक वर्ग के लिए बारह व्रतों का निरूपण किया है। दोनों वर्गों का पहला व्रत अहिंसा है। सर्वविरति साधु हिंसा का सर्वथा त्यागी होता है, किन्तु गृहस्थ होने के नाते देशविरति श्रावक

अहिंसा व्रत का पूर्णतः पालन नहीं कर सकता, वह स्थूल प्राणातिपात से निवृत्त होता है। श्रावक उसे आंशिक रूप से ग्रहण करता है। यही श्रावक और साधु में अन्तर है।

चलते-फिरते, खाते-पीते, दृष्टिगोचर आने वाले त्रस (स्थल) प्राणियों को जानबूझ कर हनन बुद्धि से मारने के संकल्प से, मन, वाणी और शरीर द्वारा न स्वयं मारना, न दूसरे से मरवाना और स्थावर जीव रक्षा का यथाशक्य विवेक करना—यही स्थूल प्राणातिपात विरमणव्रत है।

अहिंसाधर्म व्यापक है और दयाधर्म व्याप्य। अहिंसा निवृत्तिप्रधान धर्म है और दया प्रवृत्तिप्रधान। अहिंसा कारण है और दया कार्य। अहिंसा निश्चयप्रधान धर्म है और दया व्यवहारप्रधान। अहिंसा का पालन आबाल, वृद्ध सभी निर्बाध रूप से कर सकते हैं, जबकि दया धर्म का पालन सामर्थ्य एवं विवेक पूर्ण विशिष्ट बुद्धिशालि व्यक्ति ही कर सकता है।

स्थूल हिंसा ४ श्रेणियों में विभक्त है, जैसे कि १. आरम्भी २. उद्योगी ३. विरोधी और ४. संकल्पी, इनका विवरण क्रमशः निम्न लिखित है—

जो घरेलू कार्यों में रसोई आदि करते समय, झाड़ू देने में, चक्की चलाने में, पंखा करने में या शयनासन करते समय इत्यादि कार्यों में अनजाने त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है। इस हिंसा से गृहस्थ छूट नहीं सकता।

जो आजीविकावश खेती बाड़ी, दुकानदारी, नौकरी, दलाली, आदि पेशों में, तोलते, नापते, क्रय—विक्रय करते हुए, आर्य व्यापार सम्बन्धी कार्यों में जो त्रस जीवों की हिंसा होती है

वह उद्योगी हिंसा की गणना में है। इसके विना भी श्रावक का जीवन निर्वाह सुचारू रूप से नहीं चल सकता।

खूंखार, प्राणनाशक, क्रूर, हिंसक त्रस प्राणियों से और चोर, डाकू, लूटेरों से स्वरक्षार्थ या अपनी बहन-बेटी आदि स्वाश्रितों पर कोई दुराचारी आक्रमण कर रहा हो तो उनकी धर्म रक्षा के हित और न्याय नीति को सुरक्षित रखने के लिए जो विरोधी का प्रतिकार करने से हिंसा होती है, वह विरोधी हिंसा है। इसी प्रकार यदि किसी रोगादि के कारण शरीर के किसी अवयव में कीड़े (कृमि) त्रस जीव पैदा हो गए हों, और स्वास्थ्य प्राप्ति के हेतु उन कृमि आदि जीवों को किसी औषधि से हिंसा की जाए तो वह भी विरोधी हिंसा कहलाएगी। हाँ इतना अवश्य है कि विरोधी हिंसा करते समय श्रावक की भावना क्रूर नहीं होती, उसके मन में राग, द्वेष प्रज्वलित नहीं होता, केवल न्याय नीति की रक्षा के लिए और अपने बचाव के लिए वह हिंसा करता है।

शिकार खेलना, जानवरों की बलि देना, अपनी रसनेन्द्रिय की तृप्ति के लिये निरपराधी जीवों को मारना और मांस खाना या लोभ वश मांस बेचना, इसी प्रकार आमोद-प्रमोद के लिये किसी जीव को हानि पहुंचाना, अतिथि सत्कार में मांसादि का भोजन तैयार करना, सन्तानादि की प्राप्ति के लिए किसी दूसरे की सन्तान को मारना या बकरे आदि को मारना, यह संकल्पी-हिंसा है और यह श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है। क्योंकि इस प्रकार की हिंसा करते समय भावों में क्रूरता रहती है। जहां क्रूरता है वहाँ अहिंसा का अभाव होता है। अतः

श्रावक द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक किसी भी निरपराधी त्रस प्राणी की हिंसा निरपेक्ष रूप से न स्वयं कर सकता है और न करवा सकता है, मन वाणी तथा कर्म से। क्योंकि ऐसी हिंसा करने से श्रावक का पहला अणुव्रत दूषित हो जाता है।

शंका—क्या अणुव्रतधारी श्रावक मन, वाणी और कर्म के द्वारा संकल्पी हिंसा का अनुमोदन कर सकता है?

समाधान—अणुव्रती श्रावक के लिए अनुमोदना से निवृत्ति पाना अति दुष्कर है। अतः वह अनुमोदना (समर्थन) का त्याग नहीं कर सकता। शंका—संकल्पी हिंसा की अनुमोदना कैसे होती है? इसका उत्तर अनेकान्तवाद से ही दिया जा सकता है। जो उसके परिचय में हैं, ममत्व की सीमा के अन्तर्गत है, उस अनुमोदन का त्याग नहीं हो सकता। मानो किसी परिवार के स्वजनों में या दास-दासी आदि में कोई ऐसा कार्यकुशल व्यक्ति है जिसके बिना काम चलना कठिन है, यदि उसे धर्म की लगन नहीं, वह संकल्पी हिंसा करता है तो ममत्व के कारण उसका परित्याग नहीं किया जा सकता, इसीलिए अनुमोदन के तीन द्वार खुले हैं, किन्तु जो ममत्व की सीमा से बाहर है उसकी अनुमोदना श्रावक नहीं कर सकता।

पहले अणुव्रत के पांच अतिचार

१. बंध—नौकर-चाकर, दास-दासी, या घर के ही किसी पुत्र, स्त्री आदि से कोई अपराध हो जाने पर उसे क्रोधवश ऐसे कठोर बन्धन से बांधना कि जिससे वह अत्यन्त दुःख पाए,

घबराए, रोये, चिल्लाए अथवा किसी व्यक्ति को धूर्तता, छल, कपट से अपने वचन में बांध लेना, ये बन्ध अतिचार है।

२. *वध*—अपने आश्रित नौकरादि या पशु, गाय, भैंस, घोड़ा, बैल आदि को निर्दयता पूर्वक एवं क्रोधवश लाठी, चाबुक, लकड़ी, पत्थर वगैरह से बुरी तरह पीटना जिससे कि उनका जिस्म निढाल हो जाए, यह वध अतिचार है।

३. *छविच्छेद*—उपरोक्त द्विपद नौकरादि, चतुष्पद पशु आदि को अपनी आज्ञा में चलाने के लिये क्रोधवश उनके अवयवों को छेदना, नाक, कान, पूंछादि काटना, लोहे की आर चुभोना, संतप्त त्रिशूल की छाप लगाना, उसका कोई भी अंग-उपांग काट डालना, यह तीसरा छविच्छेद अतिचार है।

४. *अतिभार*—लूले, लंगड़े, अपांग, दुर्बल, रोगी अल्पवयस्क, वृद्ध, बीमार, इस प्रकार के पशुओं पर, मजदूरों पर या कुली आदि पर लोभवश क्रूरता से अधिक भार लादना, पुत्रों पर ऋण का भार अधिक लादना या कन्या पक्ष वालों पर; दहेज का तथा बरयात्रियों को अधिक ले जाने का भार लादना, यह सब अतिभार नामा अतिचार है।

५. *भक्तपानव्यवच्छेद*—स्वाश्रित मनुष्य, नौकर-चाकर, श्रमजीवी, पशु-पक्षी आदि को ठीक समय पर खाने-पीने के लिये न देना, कम देना अथवा किसी से काम करवा कर उसका दैनिक या मासिक वेतन न देना, या उसकी मेहनत से कम देना, ये सब पांचवें भक्तपानव्यवच्छेद अतिचार में गर्भित है।

———

अपवाद

१. पशु आदि की रक्षार्थ उसे बांधना अतिचार नहीं।

२. पुत्र, पुत्री, नौकरादि या पशु वगैरह को किसी कारण-वश सुधार की दृष्टि से ताड़ना पड़े तो वह अतिचार नहीं।

३. यदि किसी स्वाश्रित के शरीर में रक्त विकार से, फोड़े फुंसियां होने पर, किसी विशेषरोग से या कोई शरीर का अवयव सड़ गया या उसमें कीड़े आदि पड़ गये हैं तो उसे काटने से व्रत भंग नहीं होता; इस प्रकार पुत्री आदि के आभूषण पहनाने के निमित्त नाक-कान में छेद करना, यह भी अतिचार नहीं।

४. समर्थ नौकर या पशु आदि के ऊपर सापेक्ष भार लादना अतिचार नहीं है।

५. किसी को इस दृष्टि से भक्त-पान न देना या कम देना कि इसका रोग बढ़ न जाए तो यह भी अतिचार नहीं है।

ये पांच अतिचार जानने योग्य तो अवश्य हैं परन्तु आचरण में लाने योग्य नहीं।

अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार तक तो व्रत रक्षा की सम्भावना होती है किन्तु यदि अनाचार सेवन कर लिया, तो व्रत टूट जाता है, फिर तो उसे पुनः ग्रहण करना पड़ेगा, अतः व्रत की रक्षा के लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है।

श्रावक का दूसरा सत्य व्रत

इसमें सन्देह नहीं कि अहिंसापूर्वक सत्य ही जीवनोत्थान का अमोघ साधन है। अहिंसा के बिना सत्य अपूर्ण तथा अपांग है, किन्तु अहिंसा की वास्तविक आराधना भी सत्य के बिना नहीं हो सकती, अतः दोनों अन्योन्य आश्रित हैं, दोनों का अभेद्य सम्बन्ध है, अतः शास्त्रकारों ने अहिंसा के पश्चात् सत्य का क्रम रखा है।

यद्यपि गृहस्थ मृषावाद का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, तथापि स्थूल मृषावाद का त्याग अवश्य कर सकता है। इसी लिए शास्त्रकारों ने श्रावक की सुविधा के लिये "थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं" अर्थात्—स्थूल (मोटे) झूठ से निवृत्त होना फरमाया है। अतः स्थूल मृषावाद का परित्याग करना गृहस्थ के लिए आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना गार्हस्थ्य जीवन आदर्श और प्रामाणिक नहीं हो सकता।

शास्त्रकारों ने श्रावक को सत्य बोलने का आदेश देकर स्थूल मृषावाद से निवृत्त होने के लिये प्रेरित किया है। क्योंकि झूठ से निवृत्ति पाना ही सत्य का प्रादुर्भाव होना है। दरिद्रता का अभाव ही लक्ष्मी का सद्भाव है। अज्ञान का विलय ही ज्ञान का उदय है। एवं जितने अंश में मृषावाद के पांव उखड़ते जाते हैं, उतने अंश में सत्य की स्थापना होती जाती है।

मृषावाद का त्याग करना व्यापक धर्म है और सत्य व्याप्य धर्म है। मृषावाद सर्वथा हेय है, किन्तु सत्य हेय भी है और उपादेय भी। मृषावाद तो कटु विष है, सत्य मधुर विष भी है, और कटु अमृत भी। जैसे कभी-कभी जीने का इच्छुक व्यक्ति कटुअमृता (गिलोय आदि) भी स्वास्थ्यप्रद होने से पीने के

लिए तैयार हो जाता है। इसी प्रकार कभी-कभी स्व-पर हितकारी होने से कटु सत्य भी उपादेय होता है। और जैसे रक्त विकार वाले (खारिशवाले) व्यक्ति के लिए मधु (मीठा) हानिकारक होने से त्याज्य होता है, ऐसे ही कभी-कभी मधुर सत्य भी अहितकारी होने से त्याज्य होता है। जो सत्य जीवन को उत्थान के चरम शिखर पर पहुंचाना चाहता है, वह मृषावाद को और अनर्थकारी अधोगतिगामी हिंसाजनक सत्य को भी, कभी व्यवहार में नहीं लाता, क्योंकि ये दोनों हेय (त्याज्य) हैं।

स्थूल मृषावाद का त्याग प्रायः दो करण तीन योग से किया जाता है, यानी मन, वचन, काय से न स्वयं मोटा झूठ बोलना और न दूसरों से बुलवाना, किन्तु अनुमोदना का त्याग करना गृहस्थ के लिए दुःशक्य है। जैसे कि परिवार में से या परिजन दास-दासियों में से किसी एक ने झूठ बोलकर स्वामी का कार्य सिद्ध कर दिया हो, तो ऐसी स्थिति में अनुमोदना हो जाती है, इससे व्रत भंग नहीं होता।

स्थूल मृषावाद की व्याख्या

जिस झूठ से लोगों में प्रामाणिकता न रहे, अप्रतीति हो, राजदण्ड भोगना पड़े, वह मोटा झूठ है। आत्मा का घोर पतन इसी से होता है।

मोटा झूठ पांच प्रकार का होता है, जैसे कि—१. कन्या अलीक, २. गौ अलीक ३. भौम अलीक ४. स्थापनमृषा और ५. कूट साक्षी।

कन्या अलीक—अपनी बहन बेटी को शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक दोष युक्त जानते हुए भी उसके दोषों को छिपा

कर और उसकी झूठी प्रशंसा करके वर पक्ष वालों को विश्वास दिलाकर रिश्ता या विवाह कर देना। यह वर पक्ष वालों से विश्वासघात करना है, और कन्या के जीवन को भी खतरे में डालना है। आजकल प्रायः करके यही घुन समाज को लगा हुआ है, जिसका दुष्परिणाम आए दिन लोगों को भोगना पड़ता है। इसी ढंग से वर सम्बन्धी झूठ बोलना, यानि वर (लड़के) के दोषों को छिपा कर किसी सुशीला लड़की से उसकी शादी कर देना, मानो लड़की के जीवन का सत्यानाश करना है। ऐसा करने से कन्या तथा कन्या पक्ष वालों के साथ विश्वासघात होता है। अतः ऐसा करना श्रावक के लिए त्याज्य है।

गौ अलीक—गौ जाति सभी पालतू पशुओं में मुख्य है, उपलक्षण से हाथी, घोड़ा, बैल, भैंस, ऊँट, गधा भेड़, बकरी आदि सभी पशुओं का समावेश हो जाता है। जो पशु वृद्ध, गलियार, अडियल, दूध से शून्य होगया, उसे बेचने के लिए ग्राहक के सामने उस पशु की झूठी प्रशंसा करके उसे अच्छा बताकर बेचना, यह भी मोटा झूठ है। इस से भी दूसरे से विश्वास घात होता है, वैसे तो पशुओं का व्यापार करना ही श्रावक के लिए निषिद्ध है, किन्तु फिर भी परिमाण से अधिक हो जाने पर यदि अपने पाले हुए पशुओं को बेचना पड़े तो धोखे से नहीं बेचना चाहिए।

भौमालीक—भूमि के सम्बन्ध में झूठ बोलना। भूमि भी दो प्रकार की होती है, खुली और ढकी हुई। जिसे दूसरे शब्दों में क्षेत्र और वास्तु भी कहते हैं। जिस में खेती-बाड़ी वगैरा फसल तैयार होती है वह खेत कहलाता है, और

जिस भूमि पर मकान, दुकान कोठी आदि बने हुए हों उसे वास्तु कहते हैं। इन दो प्रकार की भूमि को लेते या बेचते समय अदला-बदली करना, अच्छी को बुरी या बुरी को अच्छी कहकर लेन देन का व्यापार करना—यह सब मोटा झूठ है। इसी प्रकार खनिज पदार्थ जैसे कि हीरा, जवाहरात, पन्ना, लाल, नीलम, प्रवालादि को भी भौम कहते हैं, इनको भी खरीदते बेचते समय अल्प मूल्य को बहु मूल्य और बहु मूल्य को अल्प मूल्य कहना मोटा झूठ है, क्योंकि इसमें दूसरे के साथ अन्याय होता है; भौमिक वस्तुएँ परीक्षा पर निर्भर हैं, और परीक्षा ईमानदारी पर निर्भर होती है; अतः श्रावक का तीसरा कर्तव्य है कि अपने भौमिक वस्तुओं के विषय में सदैव जागरूक और सावधान रहे।

न्यास मृषा—किसी की धरोहर मारना, किसी ने अपने विश्वास पर बहु मूल्य पदार्थ धन आभूषणादि बिना लिखे, बिना गवाही के रखा हो और जब वह लेने आवे तो साफ मुकर जाना यह मोटा झूठ है। इससे दूसरे को बहुत दुःख पहुँचता है। कभी कभी तो हार्टफेल, दिमागफेल आदि भी हो जाते हैं। इन सब अनर्थों का उत्तरदायित्व श्रावक पर है, अतः ऐसा करने से अहिंसा और सत्य का खून होता है। श्रावकत्व का अपमान, लोक निन्दा धर्म की अवहेलना होने की संभावना रहती है, अतः श्रावक का चौथा कर्तव्य है कि परस्पर लेन-देन, दुनियावी व्यवहार में ईमानदारी को मुख्य रखे।

कूट साक्षी—रिश्वत खाना, जान-बूझ कर लोभवश झूठी गवाही देना, स्वार्थ सिद्धि के लिए या मोह या द्वेष वश वैरी से बदला लेने के लिए, अन्यायी को न्यायी और न्यायी

को अन्यायी ठहराना, यानि सच्चे को झूठा या झूठे को सच्चा बनाने का प्रयत्न करना यह सब मोटा झूठ है। इससे भी अहिंसा और सत्य का जीवन में से दिवाला निकल जाता है। और जीवन निःसार रह जाता है। अतः श्रावक को कूट साक्षी से भी बचते रहना चाहिए।

स्थूल मृषावाद व्रत के पांच अतिचार

अतिचार—केवल जानने योग्य है, किन्तु आचरण करने योग्य नहीं है। पांच अतिचार इस प्रकार हैं।

सहसा अभ्याख्यान—बिना विचार किये, बिना देखे, बिना सुने ही किसी के विषय में कुछ निर्णय देना या द्वेष, ईर्ष्या वश किसी की प्रशंसा को न सुन सकने के कारण, उसे लोगों की दृष्टि से गिराने के उद्देश्य से उसपर मिथ्या कलंक लगाना, लोगों के दिल में उसके प्रति गलत धारणा बिठाना, साधु को असाधु, गुणी को अवगुणी, ज्ञानी को अज्ञानी, सदाचारी को व्यभिचारी, आदि कहना मोटा झूठ है। इससे भी बड़े बड़े अनर्थ पैदा होने की संभावना रहती है, क्योंकि झूठे कलंक से दुःखी होकर कतिपय आत्मघात तक कर जाते हैं। अतः श्रावक को इससे सदैव बचना चाहिये।

रहस्य अभ्याख्यान—"अपनी धोती में सभी नंगे हैं," इस उक्ति के अनुसार वीतराग के सिवाए प्रत्येक छद्मस्थ के जीवन में अज्ञानता या परिस्थिति की विवशता के कारण अनेक गुह्य बातें होती हैं, यदि उनको गुरुजनों के समक्ष सरल हृदय से प्रकट कर दे, तो आलोचना कहलाती है और उस से आत्म शुद्धि भी होती है। किन्तु यदि किसी को अज्ञानता

के कारण अपनी झूठी प्रतिष्ठा से मोह है, और किसी के समक्ष अपनी अप्रकाश्य बातों को प्रकाश करने से मान-भंग का भय बना रहता है, तो वह आलोचना नहीं कर सकता, परिणाम स्वरूप उसके कुकर्म अन्दर ही अन्दर पनपते रहते हैं, परन्तु उसकी गुह्य बातों का किसी को यदि भेद मालूम हो जाए, तो शत्रुता मात्सर्य, या असहिष्णुता के कारण लोगों में उसे दोषी ठहराने के लिये, उसकी मिट्टी पलीद करने के लिये, स्वयं उस दोषी को कुछ न कह कर लोगों में उसके दोषों को प्रकाशित करना यह दूसरा अतिचार है। इस से भी बड़े-बड़े अनर्थ होने की संभावना होती है।

किन्तु यह अतिचार तभी लगता है, जबकि श्रावक इस भ्रम में रहता है कि चाहे अमुक व्यक्ति की बात गुप्त ही है, किन्तु है तो सत्य ही, अतः सत्य बात कहने से सत्य भग नहीं होता जब उसमें ऐसी धारणा होती है तब वह अतिचार का भागी बनता है।

स्वदार मंत्र भेद—दम्पति जीवन में परस्पर प्रत्येक गुह्य, अगुह्य बात हो जाने की प्रायः घर २ में संभावना रहती है। यदि पत्नी अपने पति के समक्ष अपने हृदय की गुप्त बातों को कहकर दिल को हल्का कर लेती है, तो पति का कर्तव्य हो जाता है कि अपनी स्त्री की गुप्त बातों को लोगों में प्रकट न करे, यदि करता है तो अतिचार लगता है, क्योंकि इसमें स्त्री से विश्वासघात होता है, और भविष्य के लिये पति पत्नी में मन मुटाव भी हो जाने की आशंका रहती है। हां यदि पति अपनी जवाबदारी पर (स्त्री का नाम न लेकर) बात कहे तो अतिचार नहीं।

मृषोपदेश—अणुव्रती जब यह समझता है कि मैंने स्वयं

झूठ बोलना नहीं, दूसरे से बुलवाना नहीं, किन्तु झूठ बोलने का उपदेश देने में क्या हानि है ? ऐसा करने से मेरा व्रत भी सुरक्षित रहेगा और मेरा कार्य भी सिद्ध हो जाएगा। इस प्रकार सोचकर झूठ बोलने का उपदेश करना, यानि झूठ बोलने से अनेकों कार्य सिद्ध हो जाते हैं इस प्रकार का उपदेश करके लोगों को झूठ बोलने में प्रवृत्त कराना यह भी अतिचार है। श्रावक को इससे भी बचते रहना चाहिए।

कूट लेख करण—झूठे लेख लिखना, जाली सिक्के बनाना, जाली अगूठे लगवाना, जाली हस्ताक्षर करवाना, झूठे दस्तावेज तैयार करना कराना इत्यादि कार्य करने से श्रावक को पांचवां अतिचार लगता है। यह अतिचार तभी लगता है जबकि श्रावक यह सोच लेता है कि मेरे झूठ बोलने और बुलवाने का त्याग है, किन्तु लिखने का मेरा त्याग नहीं, यदि ऐसा समझ कर लिखता है तो अतिचार है, और यदि जानबूझ कर लिखने का दुःसाहस करता है, तो अनाचार है। अतिचार तक तो उसके व्रत की रक्षा हो सकती है। किन्तु अनाचार सेवन करने पर पुनः व्रत धारण करना पड़ता है। अतः श्रावक को अपने व्रतों की रक्षा के लिए सदैव जागरूक रहना चाहिए।

टिप्पणी—स्त्रियों को "स्वदार मन्त्र भेद" की जगह स्वभर्त्ता मन्त्र भेद" ऐसा पाठ पढ़ना चाहिए। उपर्युक्त प्रकार से स्त्री भी पति की रहस्य पूर्ण बात को प्रकट न करे, यदि करे तो स्त्री को भी अतिचार-दोष लगता है।

श्रावक का तीसरा अस्तेय व्रत

आज्ञापूर्वक, बिना दी हुई वस्तु को न ग्रहण करने में सर्वथा एवं पूर्णतया सफल होने वाले सर्वविरति ही होते हैं। वे तो आज्ञा लिए बिना दंतशोधनार्थ तृण को भी नहीं उठाते, अर्थात् बिना दी हुई वस्तु को ग्रहणार्थ कभी भी हाथ आगे नहीं बढ़ाते, किन्तु गृहस्थ के लिए अदत्तादान का पूर्णतया परित्याग करना दुःशक्य है, क्योंकि जो वस्तु कीमत से लाई गई है, दुकानदार की या विक्रेता की नजर चूक जाने से वही वस्तु यदि संख्या से, तोल से, भाव से अधिक आ जाए तो उसे वापिस करने के लिए या कहने के लिए कौन जाता है? तृण, काष्ठ, कंकर, पत्थर, मिट्टी, रेता इत्यादि तुच्छ वस्तु उठाते हुए कोई किसी की आज्ञा नहीं लेता है और ऐसा करने वाले गृहस्थ को कोई चोर भी नहीं कहता है, और न उसे राजदण्ड ही मिलता है, क्योंकि जिस व्रत का जो अधिकारी है, उसके लिए शास्त्रकारों ने वैसा ही विधि-विधान वर्णित किया है।

जिन परिस्थितियों से गृहस्थ सर्वतः घिरा हुआ है, सर्वविरत साधु उन परिस्थितियों से बिल्कुल ही बाहर है। इसी कारण जो नियम जिस रूप में पल सके, वैसा ही विधि-विधान सर्वविरति और देशविरति के लिए प्रतिपादित किये हैं, वे ही क्रमशः महाव्रत और अणुव्रत कहलाते हैं।

श्रावक का तीसरा अणुव्रत, हाथ का सच्चा होना एवं ईमानदारी है। अहिंसा और सत्य इन दोनों का पालन तभी वास्तविक रूप से हो सकता है जब कि साथ ही अस्तेय व्रत को भी धारण किया जाए एवं प्रतिज्ञा के अनुसार उसका,

पालन भी किया जाए। अस्तेय धर्म स्वतंत्र भी है और अहिंसा सत्य का पोषक तथा पूरक भी।

अहिंसा, सत्य की आधारशिला है। अहिंसा यदि पहली मंजिल है, तो सत्य दूसरी मंजिल। जो दूसरी मंजिल की छत है, वही तीसरी मंजिल का फर्श है, विश्व में ऐसा ही व्यवहार देखने में आता है। इसी प्रकार अस्तेय व्रत से अहिंसा और सत्य दोनों सुरक्षित रहते हैं और साथ ही अस्तेय व्रत स्वतंत्र धर्म भी है। अथवा यूँ कहिए कि जिसके जीवन में अहिंसा और सत्य ये दोनों अवतीर्ण हो गए हैं वह अस्तेय व्रत का अनिवार्यतः पालन करता है। देशविरति का अस्तेय व्रत इस प्रकार है।

"थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं"—स्थूल अदत्तादान से विराम पाना। अदत्त का अर्थ है—विना दी हुई वस्तु को, आदान का अर्थ है—ग्रहण करना। गृहस्थ के लिए मोटी चोरी का त्याग करना परम आवश्यक है। जब तक गृहस्थ मोटी चोरी का त्याग नहीं करता, तब तक उसका जीवन अन्य गृहस्थों के लिए विश्वस्त, प्रामाणिक तथा आदर्शमय नहीं बन सकता।

मोटी चोरी की परिभाषा

जिस से राजदण्ड भोगना पड़े, जनता विश्वास न करे, अपनी प्रामाणिकता नष्ट हो जाय, तथा धर्म की अवहेलना हो जाए, उसे मोटी चोरी कहते हैं। यह पांच प्रकार की होती है।

जैसे कि १. सेन्ध लगाना, २. गांठ काटना, ३. ताला तोड़ना, ४. मार्ग में लूटना, ५. स्वामी की चीज को बिना पूछे लेना।

१. जो वस्तु जिस के लिए अति प्रिय है, जिस के बिना सामाजिक जीवन चलाना अतिदुष्कर है, जिस के चले जाने पर मानसिक दुःख के कारण दुःखग्रस्त हो जाय, हार्टफेल तक हो जाय, पागल बन जाए, ऐसी वस्तु को उठाने के लिए घर में या दुकान में सेन्ध लगाना, यदि जमीन में गडा हुआ है तो उसे खोद कर उठा ले जाना मोटी चोरी है।

२. उपर्युक्त प्राणप्रिय वस्तु को गठड़ी में बांध कर, नोली में, डिब्बे में, ट्रंक में रखकर किसी ने बिना लिखित, बिना गवाहो के ही विश्वास करके रख दी हो, उसे बाद में निकाल लेना या निकाल कर उसी बक्स में कंकर, पत्थर डाल कर उसी प्रकार बन्द कर देना, जैसे कि वस्तु के स्वामी ने बन्द करके रखा और उसके आने पर एवं मांगने पर बन्द का बन्द उसे वापिस करना मोटी चोरी है। इसी प्रकार किसी की जेब कतरना भी मोटी चोरी है।

३. मार्ग में लूटना, डाका डालना, ठगी से, धूर्तता से दूसरों को लूटना, मोटी चोरी है।

४. जहां अनेक प्रकार का माल, धन, आभूषण आदि रखे हुए हों, ऐसी दुकान, कारखाना या स्टोर में ताला लगाकर कतिपय गृहस्थ किसी विशेष कारण से, किसी विश्वस्त व्यक्ति को चाबी (कुंजी) देकर चला जाता है। वही, स्वामी की अनुपस्थिति में उसी चाबी से ताला खोलकर उसमें से अभीष्ट वस्तु निकाल कर फिर उसी प्रकार ताला लगा देना, या दूसरी चाबी लगाकर चोरी की भावना से किसी के लगाए हुए ताले को खोल कर, ताले को तोड़कर माल निकालना मोटी चोरी है।

५. किसी की कोई वस्तु मार्ग में कहीं गिर गई या कहीं रखकर भूल गया हो, तो मालूम होने पर भी कि—यह वस्तु अमुक व्यक्ति की है, चौर्य बुद्धि से उठा लेना या अपने पास रख लेना और पूछने पर इन्कार करना यह मोटी चोरी है।

अस्तेय व्रत के पांच अतिचार

श्रमणोपासक वही हो सकता है जो उपर्युक्त पांच प्रकार की मोटी चोरी का सर्वथा त्याग करे।

जिसने इस व्रत को धारण कर लिया, उसे चाहिए कि अस्तेय व्रत के पांच अतिचारों को भली भांति जानकर, भूल कर के भी उनका आचरण न करे क्योंकि अतिचारों से व्रत दूषित हो जाता है। वे अतिचार निम्नलिखित हैं—

१ *तेनाहडे*—स्तेनाहृत-चोर की चुराई वस्तु लेना कई एक अज्ञानवश समझते हैं कि मैंने चोरी नहीं की और न दूसरे को कह कर चोरी करवाई, परन्तु चुराई हुई वस्तु लेने में क्या हानि है ? इस प्रकार अज्ञानवश या लालचवश चुराई हुई वस्तु लेना अतिचार है।

२. *तक्करपओगे*—तस्कर प्रयोग-चोरों को सहायता करना, उन्हें शरण देना, खाद्य पदार्थ, अस्त्र शस्त्र आदि के द्वारा उन की मदद करना। चोर, डाकू, ठग, लुटेरे आदि आततायियों को मदद देना, मानो अन्याय-अत्याचार को बढ़ावा देना है। इस कारण उन्हें सहयोग देना अतिचार है।

३. *विरुद्ध रज्जाइकम्मे*—राज्यादि विरुद्ध कर्म। राज्य आदि के विरुद्ध काम करने के लिए दुःसाहस करना। जो कानून

जन हिताय, जनपद हिताय, राष्ट्र सुखाय एवं कल्याणाय बने हुए हैं, उन्हें भंग करना, जैसे गैर कानूनी वस्तु मंगाना, भेजना, रखना, चुंगी नहीं देना इत्यादि सभी राज्य विरुद्ध कर्म हैं। आदि पद से जो नियम, जाति के लिए हितकर हैं, चतुर्विध श्री संघ के लिए हितकर हैं, लाभदायक हैं, उन्हें तोड़ना भी अतिचार है।[1]

४. कूडतोले कूडमाणे—कूटतोल कूटमाप—तोल माप न्यून अधिक रखना। खरीदते समय अधिक वजन वाले बाटों से तोलना और बेचने के समय न्यून वजन वाले बाटों से तोलना। इसी प्रकार मान दण्ड (गज) का भी समझ लेना। धूर्तता से न्यून अधिक तोलना नापना अतिचार है, क्योंकि ऐसा करने से दूसरे के साथ अन्याय, विश्वासघात होता है, इसी लिए इसे अतिचार कहा है।[2]

---

१. 'धर्मसंग्रह' में इस अतिचार का अर्थ—'राजाज्ञा का उल्लंघन कर शत्रुराज्य की सीमा में जाना तथा राज्य निषिद्ध वस्तु का व्यापार करना' लिखा है। बिना पासपोर्ट के राज्य की सीमा छोड़कर दूसरे राज्य में जाना, और चोरासपन से वस्तु ले जाना लाना उपरोक्त अर्थ में गर्भित हो जाता है। स्वार्थवश शत्रुराष्ट्र को स्वराष्ट्र की गुप्त माहिति पहुँचाना भी इसी अतिचार में सम्मिलित है। धर्मसंग्रहकार लिखते हैं कि इसे अतिचार तभी दशा में माना गया जब कि व्यक्ति के हृदय में व्रत को कायम रखने की भावना हो।

२. यों तो ये कार्य व्रत को भंग करने वाले हैं, किन्तु व्रत रक्षण की भावना से अथवा अतिक्रम से लगाकर अतिचार की सीमा तक ही ये अतिचार माने हैं।

५. तप्पडिरूवग ववहारे— तत्प्रतिरूपक व्यवहार। बहुमूल्य और सुपथ्य वस्तु में अल्पमूल्य और कुपथ्य वस्तु को मिला कर बेचना, जैसे दूध में पानी, घी में चरबी, शक्कर में आटा या हड्डी, सोने चांदी में खोट, मैदे में आटा मिलाकर बेचना।

जितनी बीमारियां फैलतीं हैं उन में प्रायः मुख्य कारण सुपथ्यकर वस्तु में कुपथ्यकर वस्तु की मिलावट है। वस्तु में भेल-संभेल करने वाला ही इस पाप का भागी बनता है। भेल-संभेल चोरी से की जाती है। जहां चोरी की बुद्धि पैदा हुई वहीं अतिचार लगता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी कई प्रकार की चोरी होती है, जैसे कि—सत्संग में जाने से जी चुराना, जिनवाणी के सुनने से जी चुराना, अवकाश होते हुए भी नित्य नियम न करना, स्कूल में, कालिज में, मिटिंग में, कार्यालय में, व्याख्यान में, विलंब से पहुँचना और समय समाप्त होने से पूर्व ही उठकर चले जाना चोरी है। धर्मार्थ द्रव्य को अपने ही किसी काम में खर्च कर लेना चोरी है। स्टेज पर बोलने के लिए दिए हुए समय से अधिक समय ले लेना, खोटा सिक्का दानपात्र में डालना चोरी है। दूसरे के लेख या कविता में अपना नाम जोड़ देना चोरी है।

श्रमजीवी से काम अधिक लेना, श्रमिक थोड़ा देना चोरी है। काम थोड़ा करना और श्रमिक अधिक लेना चोरी है। इत्यादि अनेकों प्रकार की चोरी होती है, उनका परित्याग जितनी मात्रा में हो सके करना चाहिए। इसी में श्रावक का भला है।

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य—ब्रह्म और चर्य इन दो शब्दों से बना हुआ संस्कृत का समस्त पद है। ब्रह्म का अर्थ होता है वेद, तत्त्व और तप[1]। इन में वेद का अर्थ है—श्रुतज्ञान, आगम में पाठ आता है "वेयमाराहइ"[2] अर्थात् समाधि का वर्णन करते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने वेद की आराधना करने के लिए कहा है इस स्थल में वेद का अर्थ श्रुतज्ञान किया है और चर्य का अर्थ होता है-अध्ययन। उपयोग पूर्वक श्रुतज्ञान का अध्ययन करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

'तत्त्व' का अर्थ होता है—आत्मा, 'चर्य'—विचरणे को कहते है, अर्थात् आत्मा में विचरण करना, आत्मा का मनन चिन्तन और निदिध्यासन करना, आत्मा और परमात्मा दोनों सजातीय हैं। परमात्मा में लीन होने को भी ब्रह्मचर्य कहते है।

ब्रह्म का तीसरा अर्थ है—तप, चर्य का अर्थ है—आचरण करना। १२ प्रकार के तप का आचरण करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। अर्थात् जो उन सभी प्रकार के तप का केन्द्र है, अथवा जिस का सम्बन्ध सभी तपस्याओं के साथ हो, उसका आचरण करना-इसको भी ब्रह्मचर्य कहते हैं।

सभी प्रकार के तपों में उत्तम तप ब्रह्मचर्य ही है[3]। अथवा ब्रह्म का अर्थ वीर्य या ओज भी होता है, चर्य का

---

१. वेद स्तत्त्वं तप इत्यमरः (अमर कोश)

२. दशवैकालिक सू० अ० ९ वां उ० ४

३. तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं (सूय० सूत्र-अ० ६)

अर्थ होता है—रक्षा करना, अर्थात् अनेकों बाधक प्रवृत्तियों से वीर्य या ओज की रक्षा करने को भी ब्रह्मचर्य कहते हैं। इसी को व्यावहारिक ब्रह्मचर्य कहते हैं, किन्तु निश्चय में आध्यात्मिक शास्त्रों का अध्ययन करना, आत्मा में विचरण करना, तप का आचरण करना—इसको ब्रह्मचर्य कहते हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के दो उपाय हैं। एक ज्ञानमार्ग, दूसरा क्रियामार्ग। ज्ञानमार्ग के द्वारा एकान्तिक और आत्यन्तिक रक्षण होता है। क्रियामार्ग ब्रह्मचर्य के बाधक तथा विरोधी संस्कारों को रोकता है और ज्ञानमार्ग काम-वासना को निर्मूल कर देता है। उपर्युक्त तीन प्रकार ज्ञानमार्ग के हैं, और चौथा प्रकार ९ वाड़ों सहित ब्रह्मचर्य पालन करना इसको क्रियामार्ग भी कहते हैं। इसमें बाह्य नियम उपनियमों का समावेश हो जाता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल सम्भोग में वीर्य का नाश न करते हुए उपस्थ इन्द्रिय का संयम रखना ही नहीं है, अपितु ब्रह्मचर्य का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। अतः उपस्थ इन्द्रिय संयम के साथ-साथ अन्य-अन्य इन्द्रियों का निरोध करना भी अनिवार्य हो जाता है। गृहस्थ प्रायः ऐसी परिस्थियों से घिरा हुआ है, जहां नौ कोटि सहित पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करना दुःशक्य है, क्योंकि अन्य गतियों की अपेक्षा से मैथुनसंज्ञा मनुष्य गति में अधिक है। (कामराग के उदय होने पर दो प्राणी के संयोग से होने वाले वैषयिक सुख को मैथुनसंज्ञा कहते हैं) इसी कारण मैथुनसंज्ञा पर ज्ञानमार्ग तथा क्रिया-

मार्ग से विजय पाना कठिन ही नहीं बल्कि कठिनतम है। अतः इस व्रत का पूर्णतया एवं सम्यक्तया पालन सर्वविरति ही कर सकते हैं[1]।

जो साधक अखण्ड—परिपूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता, किन्तु दुराचार से बचकर सन्तोष धारण करना चाहता है, उस गृहस्थ को विवाह की रस्म अदा करनी पड़ती है। जो विवाह किया जाता है, वह सदाचार की रक्षा के लिए किया जाता है—न कि भोग पूर्ति के लिए। पुरुष और स्त्री के लिए आजीवन साहचर्य को ही विवाह कहते हैं। यह साहचर्य कामवासना के तीव्रोदय को शान्त करने को दवा है। यह साहचर्य तभी निभता है जब कि एक दूसरे के स्वभाव, गुण, आयु, बल, वैभव तथा सौन्दर्य आदि को दृष्टि में रखा जाय। उपर्युक्त गुणों से युक्त हो उनका पंचों की साक्षी से पाणिग्रहण करना ही विवाह है।

श्रावक का चौथा अणुव्रत है—स्वदारसन्तोषित। जिस ने स्वपत्नी पर सन्तोष धारण कर लिया वह भी ब्रह्मचारी है। इस व्रत का नाम 'स्वदार सन्तोष' है—'स्वदार रमण' नहीं, क्योंकि स्वदार रमण में स्वच्छन्दता को स्थान है, परन्तु स्वदार संतोष में स्वच्छन्दता को स्थान नहीं।

जो अपनी स्त्री पर भी सन्तोष रखता है—वह अन्य स्त्रियों पर कैसे आसक्त हो सकता है? जो कर्मचारी अपने वेतन पर ही सन्तुष्ट है, वह रिश्वत कैसे ला सकता है? श्रावक को स्वस्त्री पर भी अत्यासक्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जानबूझ कर

---

१. उच्च प्रतिमाधारी उपासक भी कर सकते हैं।

रोग को पैदा नहीं किया जाता। यदि कभी काम रोग पैदा हो जाए और उसे अन्य किसी प्रकार से शान्त न कर सके, तो उसका इलाज वही है—जिस के लिए विवाह हुआ है। इस प्रकार की प्रक्रिया को भी सदाचार कहते हैं।

पुरुष के लिए स्वस्त्री के अतिरिक्त, शेष सभी स्त्रियां परस्त्री हैं, और स्त्री के लिए स्वपति के अतिरिक्त सभी पुरुष, परपुरुष हैं।

स्वदार संतोष व्रत के पांच अतिचार

(१) *इत्वरिक परिगृहीता-गमन* :—जिस में अभी तक वासनायें उद्दीप्त नहीं हुईं प्रत्युत शान्त हैं, इस प्रकार लघुवय वाली स्वस्त्री से भी गमन करना अतिचार है। स्वस्त्री से गमन करना अनाचार नहीं, किन्तु उस की इच्छा के विना गमन करना बलात्कार है, इस लिए अतिचार है।

अथवा श्रावक विदेश में गया हो या विधुर अवस्था हो या स्वस्त्री सगर्भा हो, रोगिणी हो, अथवा वह पीहर गई हुई हो, तो ऐसे समय में किसी वेश्या आदि को थोड़े काल के लिए रुपए देकर स्वस्त्री बनाकर उस से गमन करना अतिचार है[१]। वह समझता है कि मेरा परस्त्री का त्याग है और वेश्या का भी, इस लिए नियत समय तक स्वस्त्री बनाकर गमन करने में क्या हानि है? यह अतिचार अज्ञानता से तथा तीव्र वेदोदय से जब श्रावक मायाचारी करता है, तब लगता है।

---

१. कुछ पूर्वाचार्यों ने यह अर्थ भी किया है। किन्तु इस में मतभेद भी है।

(२) *अपरिगृहीतागमन* :—जिसके साथ सगाई हो गई है, उसे स्वस्त्री समझकर गमन करना अतिचार है, क्योंकि जब तक पंच की साक्षी से विवाह न हो जाए तब तक वह स्वस्त्री नहीं कहलाती, चाहे दोनों ही वासना पूर्ति में रजामन्द हों, फिर भी गमन नहीं करना चाहिए।

अथवा—किसी अविवाहित कन्या के साथ गमन करना अतिचार है। यह सोचना भी ठीक नहीं है क्योंकि वह किसी की पत्नी नहीं बनी, इसलिए वह परस्त्री नहीं है। यह अतिचार परस्त्री त्यागी को लगता है।

अथवा:—जिसका पति है हो नहीं-ऐसी अविवाहित कन्या या विधवा की रजामन्दी से, पुनः पुनः उसके कहने से, व्रतधारी ऐसा सोचे कि यह अपरिगृहीता होने पर भी स्वस्त्री है, ऐसा समझ कर गमन करना अतिचार है; क्योंकि वह चोरी है, मर्यादा उल्लघन है। गर्भ ठहर जाने से गर्भहत्या का भागी बनना पड़ता है।

अथवा वेश्या को भी अपरिगृहीता कहते हैं। उस पर किसी पुरुष का स्वामित्व नहीं है, उससे गमन करना अतिचार है। किन्हीं का कहना है कि यह अतिचार पर-स्त्री त्यागी को लगता है, किन्तु मेरे विचार में यह स्वदार का ही अतिचार है विवाह के समय पत्नी के साथ गोलियां दासियां भी आती है जो कि आजीवन अपनी स्वामिनी की सेवा करती है जैसे कैकेयी की दासी मन्थरा थी, जो कि पीहर से साथ ही आई थी। यदि कोई अपनी स्त्री के साथ आई हुई दासी को कालान्तर में अनुचित राग हो जाने से उसे अपनी स्त्री समझकर जब उससे गमन करता है, तब अतिचार लगता है क्योंकि उसके साथ पंचों की साक्षी से विवाह नहीं हुआ।

३. *अनङ्गक्रीड़ा*—काम सेवन के लिए जो प्राकृतिक अंग है, उसके अतिरिक्त शेष सभी अंग अनङ्ग कहलाते हैं। पर्व दिनों में मैथुन के सिवाय अन्य प्रकार की अनेकों अश्लील कुचेष्टाएँ स्वदारा के साथ करना, हस्तकर्म आदि करना, गन्दे खेल तमाशे देखना कंजरियों के कामोत्तेजक नृत्य देखना—अतिचार है।

४. *पर विवाह करणे*—दूसरों के पुत्र पुत्रियों का पुण्य समझ कर विवाह करना अतिचार है दूसरों का रिश्ता छुड़ाकर अपने साथ या आत्मीयजन के साथ करना अतिचार है। पत्नी के होते हुए भी अन्य विवाह करना अर्थात् एक के होते हुए भी "पर" यानी, दूसरा विवाह करना अतिचार है। आनन्द आदि श्रावकों ने जिस तरह व्रतधारण करते समय अपनी स्त्री का नामोल्लेख करते हुए अन्य सभी प्रकार के मैथुन का त्याग कर दिया इसी प्रकार जिसने पत्नीव्रत धारण किया हो यदि उसका देहान्त हो जाय तो पत्नी व्रत होने से पुनर्विवाह नहीं करा सकता। जैसे पतिव्रता स्त्री विधवा हो जाने से पुनर्विवाह नहीं करती, एवं पुरुष को भी पत्नीव्रत होने से इसी मार्ग को अपनाना चाहिए।

५. *कामभोग तीव्र अभिलाषा*—चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के विषय को काम कहते हैं। इनसे कामना तो होती है परन्तु उपभोग नहीं होता। घ्राण रसना और स्पर्शना इन तीनों इन्द्रियों के विषय को भोग कहते हैं अर्थात् ये तीन इन्द्रियें अपने विषय के उपभोग से ही तृप्त हो सकती हैं। पांचो इन्द्रियों के विषय में तीव्र अभिलाषा करना अतिचार है। अथवा विषयानन्द की उत्तेजना के लिए वाजीकरण रसायन गुटिका को मुंह में रखकर या खाकर मैथुन सेवन करना

अतिचार है। अथवा स्वपत्नी के साथ भी अमर्यादित गमन करना अतिचार है, क्यों कि ऐसा करने से सन्तोष नहीं रहता। अतिचार से सदाचार दूषित हो जाता है। देश रूप से व्रत खण्डित होना ही अतिचार है। अतिचार से अनाचार होने की संभावना रहती है। एतदर्थ अतिचारों को जानना अवश्य चाहिए परन्तु आचरण में उन्हें नहीं लाना चाहिए।

श्रावक का पांचवां इच्छापरिमाणव्रत

लोभ-मोहनीय के उदय से ९ प्रकार के परिग्रह को प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम इच्छा पैदा होती है। इच्छा से संग्रह बुद्धि, उससे ममत्व बुद्धि पैदा होती है। मोह कर्म ही परिग्रह संज्ञा का प्रवर्तक है। अप्राप्तवस्तु को प्राप्त करने के लिए इच्छा का जन्म होता है। वस्तु मिलने पर संग्रह करने लगता है, संग्रहीत वस्तु पर, ममत्व अपने पंजे जमा लेता है।

अथवा अनधिकृत सामग्री को पाने की इच्छा करना, इच्छा परिग्रह है। वर्तमान में मिलती हुई वस्तु को आसक्ति पूर्वक ग्रहण करना-संग्रहपरिग्रह है। संग्रहीत वस्तु पर आसक्त तथा गृद्ध होना मूर्च्छा परिग्रह है। इच्छा का परिमाण करना यही श्रावक का पांचवां अणुव्रत है—क्योंकि इच्छा आकाश के तुल्य अनन्त है, उसे संतोष के द्वारा ही परिमित किया जा सकता है। इच्छा परिमित हो जाने पर संग्रह और ममत्व भी परिमित हो जाता है। श्रावक जो कुछ भी परिग्रह रखता है, वह केवल आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही, न कि तृष्णापूर्ति के लिए।

आवश्यकता उसे कहते हैं जिसके विना गृहस्थ जीवन की यात्रा, सामाजिक मर्यादा, दान पुण्य तथा धर्मक्रिया निर्विघ्नता पूर्वक न चल सके अर्थात् जो सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान में साधन रूप हो। आवश्यकता से अधिक परिग्रह न रखना भी अपरिग्रह है। अणुव्रती श्रावक अन्याय, अनीति सम्पन्न द्रव्य को विष तुल्य समझता है। वह माया का गुलाम नहीं होता, उसका धनवल, शक्ति और सहिष्णुता न्याय के लिए ही होती है।

स्थूल परिग्रह विरमण व्रत

श्रावक का अपरिग्रह व्रत केवल निवृत्यात्मक ही नहीं होता है वल्कि प्रवृत्यात्मक भी होता है। मर्यादित वस्तु के उपरान्त किसी भी वस्तु को न ग्रहण करना, अग्रहण निवृत्यात्मक अपरिग्रह है।

जो न्याय नीति से उपार्जित किया हुआ द्रव्य है उसे प्रवचन प्रभावना, शासनोन्नति के निमित्त, सहधर्मियों की सहायता के लिए, दुखियों की मदद के लिए अनुकम्पादान एवं धर्मदान करते रहना प्रवृत्यात्मक अपरिग्रह है। संगृहीत वस्तु से ममत्व घटाकर उसे धर्म कार्य के लिए सुव्यय करते रहना भी अपरिग्रह है।

परिग्रह की व्याख्या और उनके भेद

जिसे मोह वुद्धि के द्वारा सव ओर से ग्रहण किया जाए उसे परिग्रह कहते हैं †। संसार में सभी प्राणी परिग्रह से

† परिसमन्तात् मोहबुद्धया गृह्यते यः स परिग्रहः।

आवृत्त है। यद्यपि सभी प्राणियों का परिग्रह भिन्न-भिन्न हैं, तदपि उन सबका अन्तर्भाव ९ में ही हो जाता।

पांचों इन्द्रियों के जो पांच विषय हैं उन में आसक्त होना भी परिग्रह है, और जो पदार्थ सामूहिक रूपेण समष्टि में विषमता दुर्व्यवस्था, हरण, शोषण, दुःख एवं विनाश की प्रवृत्तियों को जन्म दे, वह परिग्रह है।

पदार्थ स्वयं परिग्रह नहीं किन्तु जब उसे पाकर जीव राग द्वेष के परिणामों में परिणत हो जाता है, तब वही पदार्थ उपचार से उसके लिए परिग्रह बन जाता है। वस्तुतः जीव में राग द्वेष रूप अध्यवसाय ही परिग्रह है। परिग्रह वृत्तियों में और मन में रहता है, वस्तुओं में नहीं, "वस्तु" पर है, जब "पर" में "स्व" की बुद्धि बने, तब उसको परिग्रह कहते हैं। जिसमें जो पदार्थ, परिग्रहसंज्ञा पैदा करने में कारण बने, वे पदार्थ परिग्रह बन जाते हैं।

नौ प्रकार का परिग्रह

१. क्षेत्र—खेत, बाग, पहाड़-खदान, चरागाह, वनविभाग, जिसकी सिंचाई नहर, कुंआ, नलकूप, कूल, अरहट, आदि साधनों से की जाती हो वह खेत, या जिस की सिंचाइ सिर्फ वर्षा से ही हो सकती है वह खेत-इन सभी का समावेश क्षेत्र परिग्रह में हो जाता है।

२. वास्तु—तलघर, हर्म्य, प्रासाद, कोठी, हवेली, दुकान, ग्राम, नगर, कस्बा, नोहरा इत्यादि सभी का समावेश वास्तु परिग्रह में हो जाता है, अर्थात् ढकी हुई भूमि को वास्तु कहते हैं।

३. *हिरण्य*—चांदी के वर्तन, चांदी के भूषण चांदी के अन्य उपकरण ये सभी हिरण्य परिग्रह के अन्तर्गत है।

४. *सुवर्ण*—स्वर्ण के वर्तन, भूषण अन्य उपकरण, इन सब का अन्तर्भाव स्वर्णपरिग्रह में हो जाता है।

५. *धन*—टिकिट, नोट, सिक्का, मणि, माणिक्य वज्र, रत्न, हीरक, प्रवाल, मौक्तिक, पाषाण, फैक्टरी, शंख, अगुरु रवड़, प्लास्टिक, चन्दन, वस्त्र, काष्ठ, चर्म, दंत, रुई, कपास, वाल, गंध, रत्न की २४ जातियां, पण्य, गुड़ शक्कर, अनघड़ सोना, चांदी या घड़े हुए सोना चांदी जो कि क्रय विक्रय रूप है। व्यापार रूप में जो वस्तु खरीदी हुई है, या जो वेचने के लिए रखी हुई है, इत्यादि वस्तुओं का अन्तर्भाव धन परिग्रह में हो जाता है।

६. *धान्य*—गेहूँ जौ, चावल कोद्रव, कगू, तिल, उड़द, अलसी, राजमाष, मसूर, कुलत्थ, सरसों, मटर, मक्कई, चणक, इत्यादि २४ प्रकार के धान्य विशेष ये सब धान्य परिग्रह में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

७. *द्विपद*—स्त्री, पुत्र, पुत्री, भाई, वहन, मित्र, ज्ञाती, गोती, स्वजन-सम्बन्धी, दास, दासी, शुक, मैना, मोर, चकोर कबूतर, हंस, ये सब दो पांव वाले प्राणी है, अतः इन सब का समावेश द्विपद परिग्रह में हो जाता है। उपलक्षण से दो पहिए वाले यान भी इसी परिग्रह में समाविष्ट हैं, जैसे कि गाड़ी, मंजफोली, साईकल आदि।

८. *चतुष्पद*—गौ, महिषी, हाथी, घोड़े, खच्चर, ऊंट, गर्दभ, भेड़, वकरी ये सब चार पांव वाले हैं। उपलक्षण से-चार

पहिये वाले जितने भी यान हैं जैसे कि—टैक्सी, जीप, ठेला, बस, गाड़ी, बग्गी, रथ आदि यान इनको धन में भी समाविष्ट किया जा सकता है।

६. कुप्य—उपर्युक्त परिग्रह के अतिरिक्त जितनी भी घेद वस्तुएं हैं जैसे कि—लोहा, ताम्बा, सीसा, पितल, त्रपुष, कांसी इत्यादि धातुओं की बनी हुई जितनी भी चीजें हैं, उन सब का अन्तर्भाव कुप्य परिग्रह में हो जाता है।

यदि कुप्यधातु व्यापार के लिए रखा हुआ हो तो वह धन में भी समाविष्ट हो जाता है।

श्रावक का अपरिग्रह धर्म

साधु के समान निष्परिग्रही बनना गृहस्थ के लिए अत्यन्त कठिन है, किन्तु फिर भी श्रावक अपरिग्रही हो सकता है। 'अपरिग्रह" इस पद में नञ् समास हो रहा है। नञ् समास प्रसज्य निषेधक और पर्युदास निषेधक दोनों प्रकार का होता है।

सर्वविरति के प्रकरण में अपरिग्रह का अर्थ नौ प्रकार के परिग्रह से सर्वथामुक्त या प्रसज्य निषेधक नञ् समास होता है। किन्तु श्रावक के प्रकरण में अपरिग्रह का अर्थ पर्युदास निषेधक नञ् समास से करना होता है। पर्युदास नञ् समास देश निषेधक होता है। उपर्युक्त दोनों निषेधकों का स्पष्टीकरण उदाहरणों से हो सकता है, जैसे कि एक वह व्यक्ति है जो किसी भी लिपि को पढ़ना नहीं जानता, उसे अनपढ़ कहना सर्वथा निषेधक है।

एक व्यक्ति फारसी का आलमफ़ाजिल, इंगलिश का एम०ए० है, और किसी एक विषय पर उसे पी०एच०डी० की उपाधि भी प्राप्त है, ऐसा व्यक्ति जितनी भाषाओं को, जितनी लिपियों को, जितने विषयों को वह जानता है; उनकी अपेक्षा से पठित एवं अभिज्ञ है, किन्तु जिन भाषाओं को तथा जिन लिपियों को एवं जिन विषयों को वह नहीं जानता उनकी अपेक्षा से वह अपठित एवं अनभिज्ञ है। इसी प्रकार जितने अंश में श्रावक ने परिग्रह का परित्याग कर दिया उतने अंश में वह अपरिग्रही है। अपरिग्रही की व्याख्या चार प्रकार से की जा सकती है। द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः एवं भावतः।

द्रव्यतः अपरिग्रह—आवश्यकता से अधिक न रखना, हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार के द्वारा द्रव्योपार्जन न करना अनार्यकर्म, अनार्य व्यापार, अनार्यकला, अनार्यशिल्प से किसी भी प्रकार की आजीविका न करना, इसे द्रव्यतः अपरिग्रही कहते हैं।

क्षेत्रतः अपरिग्रह—किसी भी क्षेत्र में, ग्राम में, नगर में, वन में, उपर्युक्त प्रकार से द्रव्योपार्जन न करना, न इच्छा करना, न संग्रह करके रखना और न उन पर ममत्व रखना, ये सब क्षेत्रतः अपरिग्रह कहलाता है।

कालतः अपरिग्रह—दिन, रात्रि, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष या आयुपर्यन्त किसी भी समय में कितना ही स्वर्णिम अवसर प्राप्त हो फिर भी अन्याय, अनीति से द्रव्योपार्जन न करना, अन्याय अनीति से अपार धनराशि मिलती हो या राज्यसत्ता मिलती हो, उसे स्वीकार न करना इसे कालतः अपरिग्रह कहते हैं।

भावतः अपरिग्रह—प्रतिदिन इच्छा को कम करते रहना, संग्रह बुद्धि को घटाना, ममत्व बुद्धि को कम करना, दुर्व्यसनों को, बुरी आदत को, अपने में रहे हुए अवगुणों को न्यून करना, छोड़ना इसे भावतः अपरिग्रह कहते हैं।

उपलक्षण से अन्य तरीके स्वयं समझ लेना जैसे कि—

१. चाहे कितना ही ऊंचा पद मिले किन्तु इतने वेतन से अधिक नहीं लूंगा।

२. इतनी मात्रा में आय हो जाने के बाद फिर उस दिन व्यापार नहीं करूंगा।

३. १५-कर्मादानों से द्रव्योपार्जन नहीं करूंगा।

४. प्रतिदिन इतने घण्टे से अधिक द्रव्योपार्जन नहीं करूंगा।

अपरिग्रह से फिक्र, चिन्ता, मानसिक संकल्प-विकल्प कम हो जाते हैं। समय आर्त तथा रौद्र ध्यान में अधिक नहीं गुजरता। धर्म ध्यान के लिए अधिक समय मिल जाता है। मानसिक दुःख भी कम हो जाते हैं। यह है अपरिग्रही बनने का साक्षात् फल। इस से शुभगति प्राप्त होती है यह उस का परंपर फल।

स्थूलपरिग्रह परिमाणव्रत के ५ अतिचार

१. क्षेत्रवास्तु परिमाण अतिक्रम—व्रत धारण करते समय खुली भूमि और ढकी हुई भूमि का जो परिमाण किया है, कालान्तर में साथ लगती भूमि या मकान अल्पमूल्य में मिलता हो, या अन्य किसी जगह बहुत अच्छी भूमि मिलती हो या

मकान मिलता हो, तो लोभवश मर्यादा उपरान्त क्षेत्रवास्तु बढ़ाना अतिचार है[1]।

२. *हिरण्य सुवर्ण प्रमाण अतिक्रम*—चांदी, सोने का जो प्रमाण किया हुआ है, जिस पर अपना स्वामीत्व है, उसे मर्यादा उपरान्त बढ़ाना अतिचार है, या मर्यादा उपरान्त बढ़े हुए सोने चाँदी को अपने ही पुत्र, पुत्री, स्त्री और स्नुषा के लिए देते रहना अतिचार है, क्योंकि इससे तृष्णा बढ़ती है—घटती नहीं। यदि उसे अनुकम्पादान और धर्मदान में, श्रुत भक्ति में खर्च करते रहें, तो अतिचार नहीं।

३. *धनधान्य प्रमाणातिक्रम*—धन और धान्य रखने का जितना प्रमाण किया है, उससे अधिक रखना अतिचार है।

मन की शान्ति; व संतोष के लिए, तृष्णा को रोकने के लिए धर्म में समय अधिक लगाने के लिए प्रमाण किया जाता है। यदि किसी व्यापार में धन अधिक बढ़ गया, अकस्मात् मकान में से या जमीन में से या स्वजन सम्बन्धी की मृत्यु होने से धन मिल जाए तो लोभवश रखना एवं जिस-जिस धान्य का प्रमाण बन्धा हुआ है, अधिक फसल हो जाने से भाव तेज हो जाना, दुर्भिक्ष आदि के भय से, अधिक मात्रा में रखना अतिचार है। उसे दान में दे देने से अतिचार नहीं।

४. *द्विपद चतुष्पद प्रमाण अतिक्रम*[2]—दास-दासी का जितना

---

१. आनन्द गाथापति ने ५०० हल की भूमिमर्यादा की थी वास्तु का प्रमाण नहीं किया।

२. आनन्द गाथापति ने ८० हज़ार गौएँ रखने का प्रमाण किया, दास दासी का नहीं।

प्रमाण किया है काम बढ़ने से अधिक रखने एवं चौपाये, पालतू पशु प्रमाण से अधिक रखने में अतिचार है।

शंका—जो गौएँ प्रसव होती थीं, उनके बच्चे और बच्छियों के द्वारा मर्यादित संख्या का बढ़ना अनिवार्य है, फिर अतिचार से बचाव के लिए वे क्या उपाय करते थे ?

समाधान—गौ जाति में बैल, गऊ, बछड़े सभी का समावेश हो जाता है। जो गौ बाँझ है, अप्रसूता है, वृद्ध, रोगी तथा अपाहिज है उन्हें अपनी गौशाला में दाखिल कर देते थे। उनसे निजी कोई भी काम नहीं लिया जाता था, करुणा भाव से उनकी पूरी-पूरी रक्षा की जाती थी, न कि उन्हें आजकल की तरह आवारागिर्द या वध्यभूमि में पहुंचाया जाता था।

किसी विश्वस्त पुरुष को सहायता रूप में भी दे दिया करते थे। कुछ दहेज में भी दे दी जाती थी, कुछ मरते भी रहते थे। सत्य व्यवहार से विश्वस्त पुरुष को बेच भी देते थे। परन्तु वे पशुओं का व्यापार नहीं करते थे।

५. *कुप्य धातु का प्रमाण अतिक्रम*—जो भिन्न-भिन्न धातुओं के इमारती साधन हैं, जो उद्योग धंधे के साधन हैं एवं फैक्टरी के साधन हैं, जो खाने-पीने की चीजें बनाने के साधन हैं, वस्त्र आभूषण सुरक्षित रखने के लिए ट्रंक, सन्दूक, बक्स आदि साधन नई धातुओं की चीजें खरीदनी हों तो, पुरानी चीजों का निकास दान के द्वारा करते रहना चाहिए, अन्यथा मर्यादा उल्लंघन हो जाने से अतिचार की सम्भावना रहेगी।

श्रावक का दिशापरिमाण—गुणव्रत

छठे से लेकर आठवें व्रत तक गुणव्रत कहलाते हैं

गुणव्रत का अर्थ है—जिससे मूलगुणों का विकास हो। ३ गुणव्रत, ५ मूलगुणों के रक्षक हैं अथवा मूलगुणों की रक्षा के लिए गुणव्रत बाड़ है। जैसे बीज में जो शक्ति होती है वह खाद और पानी के द्वारा अत्यधिक विकसित हो जाती है एवं गुणव्रतों से मूलगुण अत्यधिक विकसित हो जाते हैं।

जैसे कोरे घड़े में डाला हुआ पानी समयान्तर में ठंडा हो जाता है। यदि पानी के बर्तन को कहीं ठंडी जगह रखा जाए तो पानी अधिक ठंडा हो सकता है एवं मूल गुणों से आत्मा विकसित होता है, किन्तु उन मूलगुणों को सुरक्षित रखना गुणव्रतों का काम है। इसलिए अब गुणव्रतों का निरूपण करते हैं।

पहला गुणव्रत है 'दिशापरिमाण', जैसे खुद की खींची हुई कार (गोलाकार रेखा) में रहने के लिए लक्ष्मण जी ने सीता जी को कहा था और उससे बाहर जाने के लिए निषेध किया था, क्योंकि बाहर का स्थान सभी प्रकार के उपद्रवों से ग्रस्त और अन्दर का स्थान उपद्रवों से बिल्कुल रहित था, इसलिए अन्दर ही रहना, बाहर न जाना—ऐसा लक्ष्मण जी ने सीता जी के आगे विनम्र निवेदन किया था, परन्तु पीछे से सीता जी मायावी के मायाजाल में फंस कर रेखा-क्षेत्र से बाहर हुई और तुरन्त मायावी रावण उसे अपहरण करके लंका में ले गया। उस भूल का परिणाम यह निकला कि सीता जी ने स्वयं भी हैरानी और परेशानी भोगनी पड़ी, राम एवं लक्ष्मण जी को भी हैरान तथा परेशान होना पड़ा और युद्ध

में भयंकर नरसंहार हुआ (यह तुलसीकृत रामायण का एक रूपक है)

एवं श्रमण भगवान् महावीर ने भी श्रमणोपासकों के लिए प्रतिपादन किया है—कि 'तुम अपने जीवन को उपयोगी क्षेत्र के उपरान्त छह दिशाओं की सीमा बांध लो'। अपने आने और जाने तथा व्यापार आदि क्षेत्र की सब ओर से सीमा होनी चाहिए। सीमा से बाहर न जाना, न वस्तु भेजनी और न वहां से मंगवानी, इससे यह लाभ होगा कि सीमा से बाहर जो कुछ भी महापाप उद्योग-धन्धे आरम्भ समारम्भ आदि हो रहे हों उन सब की क्रिया रुक जाती है। उसमें से किसी भी दोष का भागी वह नहीं बनता है—जिसने कि छः दिशाओं की सीमा बांध ली हो। अतः इस व्रत से सीमा बाहर के सभी प्रकार के आश्रव टल जाते हैं।

ऊर्ध्व दिशा का यथेच्छ परिमाण करे, अधोदिशा का भी तथा पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर इन सब का—मील, कोस, योजन आदि की गणना से सब ओर सीमा बांधनी चाहिए, सीमा से बाहर बिल्कुल न जाए।

यदि लोभ, लालच, कौतुक, सैर सपाटा आदि के कारण से चला जाए, तो अनाचार अर्थात् मूल से ही व्रत भंग हो जाएगा। यदि भूल से चला जाए या जलयान, वायुयान, रेलगाड़ी में बैठे-बैठे नींद आ जाने से, या तूफान आदि के आ जाने से, सहसाभियोग से या अन्य किसी विशेष कारण से, अनिच्छा से बाहर चला गया, तो जब तक वहां से वापिस न आ जाए, तब तक बाहर के क्षेत्र में किसी भी प्रकार का आश्रव सेवन न करे, अपनी सीमा में प्रवेश होने तक ऐसी

ही प्रतिज्ञा रक्खे। अपनी सीमा को सदा स्मरण रखना, क्षेत्र को बढ़ाना नहीं, जैसे कि किसी को दक्षिण या उत्तर में अधिक काम पड़ता है। पश्चिम दिशा में अधिक काम नहीं पड़ता है तो पश्चिम में से १०० योजन घटाकर दक्षिण की ओर जोड़ देना—ऐसा कदापि नहीं करना। अपनी सीमा से बाहर यदि कोई अपनी वस्तु हो, तो उसे लाने के लिए न किसी को भिजवाए यदि कोई दूसरा स्वयं ले आए तो उसका आगार—व्रतभंग नहीं होगा, क्योंकि इस व्रत को, दो करण तीन योग से धारण किया जाता है। इस व्रत से बाहर के सभी अव्रत टल जाते हैं, तृष्णा रुक जाती है, मन शान्त हो जाता है। अव्रत रुकने से अनन्त भव भ्रमण नष्ट करके शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है।

श्रावक का उपभोगपरिभोग परिमाणगुणव्रत

जो एक बार भोगने में आए उसे उपभोग और जो वस्तु पुनः-पुनः काम में आए उसे परिभोग कहते हैं। इन दोनों में २६ बोलों का अन्तर्भाव हो जाता है। इनकी मर्यादा करने से मेरु जितना पाप घट कर सरसों जितना रह जाता है। गृहस्थ २६ बोलों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, अतः यथाशक्य जो वस्तु ममत्व का अधिक कारण हो, जो महा-आरम्भ और महापरिग्रह जनक हो, ऐसी वस्तु का सेवन न करे, किन्तु अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, अल्पदोष, अल्पतृष्णा से जो वस्तु सुलभ हो, वह भी आवश्यकता से अधिक न हो उन का सन्तोष पूर्वक सेवन करे। यह व्रत संतोष का मूल कारण

है। इससे जीवन सादा बन जाता है। सागर जितनी तृष्णा घट कर गागर जितनी रह जाती है। इसीलिए वह श्रावक, धर्म से आजीविका करने वाला माना जाता है। जितना वह आत्मा के नियम उपनियमों से बद्ध होता है उतना ही वह कर्मों से हल्का हो जाता है। स्वेच्छाचारी होने से कर्मों से भारी हो जाता है। २६ बोल निम्नलिखित हैं—

१. जो वस्त्र, हाथ, मुंह और शरीर के पोंछने के काम में आता है, ऐसे (जोकि स्वदेश में बना हो) वस्त्र में से किसी एक किस्म का रखना या गणना के अनुसार रखना और शेष का त्याग करना।

२. शृंगार की दृष्टि से नहीं, बल्कि स्वास्थ्य की दृष्टि से दांत साफ करने के लिए दातौन, टूथ-पाउडर, दंतमंजन आदि अनेक साधन हैं, जिसे वह प्रतिदिन सेवन करता है, उसका परिमाण करके उपरान्त का त्याग करे।

३. जो फल खाने के काम आते हैं, चटनी, अचार, शाक, मुरब्बा आदि बनते हैं, ऐसे फलों की जाति, वजन या संख्या का परिमाण करके उपरान्त सभी प्रकार के फलों का त्याग करे[1]।

४. जिस तेल, इत्र फुलेल आदि का प्रतिदिन सेवन (मालिश) किया जाता हो, उनकी जाति या महीने में वजन का परिमाण करके उपरान्त सभी प्रकार के तेलों का परित्याग करे।

---

१. इस जगह—'बालों में डालने के आँवला आदि फल'—ऐसा अर्थ पूर्वाचार्यों ने किया है।

५. मैल, चिकनाई उतारने के लिए उबटन, पीठी, साबुन, क्षार आदि का परिमाण करके उपरान्त का त्याग करे।

६. *स्नान*—२४ घन्टे में कितनी बार स्नान करे, कितने पानी से स्नान करे, इस प्रकार की संख्या और पानी के वजन का परिमाण निर्धारण करके नदी, नाले, कुआँ, तालाब, समुद्र आदि में प्रवेश कर स्नान आदि का त्याग करे।

७. *वस्त्र*—कपास तथा ऊन इत्यादि अनेक प्रकार के वस्त्रों में से जो वस्त्र स्वदेशी या विदेशी हाथ का बुना हुआ या मशीन का बना हुआ, वस्त्र प्रतिदिन पहनता है, उनकी संख्या आदि का परिमाण रख कर उनसे उपरान्त का परित्याग करे। यदि अधिक हों तो उनका दान करे, अपने काम में लाने के लिए परिमित वस्त्र रक्खे। रेशम आदि का सर्वथा त्याग करे।

८. *विलेपन*—केशर, चन्दन, कर्पूर आदि जो विलेपन के काम आते हों, उनका परिमाण करके उपरान्त का त्याग करे।

९. *पुष्प*—यदि वह अपने काम के लिए फूलों का प्रयोग करता हो, तो फूलों की जाति और उसकी भी संख्या, तोल आदि का परिमाण करके उपरान्त का त्याग करे।

१०. *आभरण*—सिर से लेकर पैर तक जो भी भूषण पहने जाते हैं, उनमें से कुछ एक का परिमाण करके उपरान्त का त्याग करे।

११ *धूप*—वायु शुद्धि या रोग निवृत्ति या सुगन्धि के लिए धूप जाति का परिमाण करके उपरान्त का त्याग करे।

१२. पेय—चाय, कॉफी, काढ़ा, ठंडाई, शर्बत, सोडा, दूध आदि जो पीने के काम आते हैं, उनका परिमाण करके उपरान्त का परित्याग करे।

१३. भक्षण पक्वान्न, मिठाई आदि की जाति या किस्म उसका वजन, संख्या आदि से परिमाण करके उपरान्त का त्याग करे।

१४. *ओदन*—चावल, बासमती, घूली, खिचड़ी आदि का परिमाण करके उपरान्त का त्याग करे।

१५. *दाल*—मूंग, चने, मसूर, मटर आदि का परिमाण करके शेष का परित्याग करे।

१६. *विगय*—दूध, घी, तेल, दही, आदि विगयों का परिमाण करके शेष का परित्याग करे। महाविगय का सर्वथा त्याग करे।

१७. *साग*—भाजी, फूलों की, फलों की, पत्तों की, बीजों की, उक्त पदार्थों का परिमाण करके बाकी का त्याग करे।

१८. *मधुर पदार्थ*—बादाम, पिस्ता, दाख, मेवा आदि पक्के हुए फलों की भी—किन्हीं का परिमाण करके उपरान्त का त्याग करे।

१९. जीमने में जितने पदार्थ रखने हों उतने रख कर उपरान्त का त्याग करे।

२०. पीने के लिए पानी का परिमाण करना, नदी, नल, हैण्डपम्प, कुआँ, बावड़ी, तालाब, आकाशी, झील इत्यादि जलों में से जो जल अपने काम में आता हो उसका परिमाण करके उससे उपरान्त का त्याग करे।

२१. *मुखवास*—पान, सुपारी, इलायची आदि जो मुख को सुगन्धित करते हैं उनका परिमाण। २४ घण्टों में कितनी वार? और कितना सेवन करना? इसका परिमाण करके उपरान्त का त्याग करे।

२२. *वाहन*—हाथी, घोड़ा, रक्षा, गाड़ी, वायुयान, रेल्वे, मोटर, तांगा, साईकल आदि जो सवारी के काम आते हैं, उनमें से किसी का परिमाण करके उपरान्त का त्याग करे।

२३. *उपानत्*—जूता, बूट, (जो अहिंसक चर्म से बने हुए हैं) जुराव, खड़ाऊ आदि का परिमाण करके उपरान्त का त्याग करे। शेष हिंसक चर्म का परित्याग करे।

२४. *सेज*—मंजा, पलंग, कुर्सी, चारपाई, मूढा इत्यादि अपने काम में आने वालों के उपरान्त का परित्याग करे।

२५. *सचित्त*—पांच स्थावर काय का यथाशक्य परिमाण करके उपरान्त का त्याग करे।

२६. *द्रव्य*—एक वस्तु के जितने रूपान्तर बनते है, उतने द्रव्य बन जाते हैं, जैसे कि गेहूँ की रोटी, पूड़ी, परांठे, सेंवी, दलिया इत्यादि अनेक द्रव्य बन जाते हैं। प्रतिदिन प्रातः सायं द्रव्यों का परिमाण करना। ये परिमाण दो प्रकार के होते हैं—सामान्यतया और विशेषतया। सामान्यतया मूंगीदाल, चनों की दाल, उड़द की दाल, उन सभी का दाल में गिनना। विशेषतया वह है जितनी दालों की किस्में हैं, उनका नाम खोलना, और शेष का त्याग करना।

उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत के पांच अतिचार हैं, जिन्हें जानना अवश्य चाहिए, परन्तु उनका आचरण नहीं करना

चाहिए। विष को भी जानना चाहिए और अमृत को भी, किन्तु विष को खाना नहीं चाहिए, जब मिले तब अमृत को छोड़ना नहीं चाहिए। वे पांच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१. *सचित्ताहार*—जो सचित्त, परिमाण से बाहर है अर्थात् जिसका त्याग किया हुआ है। उसको नहीं खाना चाहिए और न पीना ही चाहिए। परित्यक्त सचित्त पदार्थ का जान बूझ कर आहार करे तो अनाचार है। यदि अचित्त वस्तु में कोई सचित्त वस्तु का मिश्रण हो रहा है, उसे अचित समझ कर आहार करे या अनजाने आहार करे तो अतिचार से नियम दूषित हो जाता है।

२. *सचित्त प्रतिबद्धाहार*—जिस सचित्त का त्याग है उसके साथ संसक्त अचित्त वस्तु है अर्थात् उसके साथ प्रतिबद्ध होने से हेय है, जैसे वृक्ष से छुड़ा कर गून्द खाना, सचित्त पत्ते पर मलाई का बर्फ खाना, भल्ले, चाट आदि खाना, गुठली सहित आम, बेर, पिण्डखजूर आदि खाना, अतिचार है।

३. अपक्वाहार जो वस्तु अपक्व है, अभी अच्छी प्रकार परिपक्व नहीं हुआ, अग्नि के द्वारा या मौसम के द्वारा अच्छी तरह पका नहीं, उसका आहार करना बहुत से श्रावकों ने सचित फलों का सर्वथा त्याग किया होता है किन्तु यदि अग्नि के द्वारा पकाया हुआ हो तो उसका त्याग नहीं, इसी कारण कहा है कि 'जो अग्नि द्वारा परिपक्व नहीं हुआ'।

कई लोगों का त्याग हरीकाय का होता है। जो मौसम से फल आदि पके हैं वह खा सकता[1] है, इसी कारण कहा है

१. इसमें भी मतभेद है।

कि जो मौसम से अच्छी प्रकार से नहीं पका उसे खाना अतिचार है।

४. *दुष्पक्वाहार*—जो सचित्त पदार्थ अग्नि के द्वारा पकाए तो गए हैं किन्तु अर्द्धपक्व हैं या अधकच्चे हैं जैसे—चने, गेहूँ, बाजरी का होला, भुट्टे, भुनि हुई छलियां खाना, क्योंकि उनमें कुछ एक दाने कच्चे रह जाते हैं।

५. *तुच्छौषधिभक्षण*—जो वनस्पति खाने में कम आए और फेंकने में अधिक, या जिसके खाने से उदरपूर्ति भी न हो सके और विराधना अधिक हो जाए, ऐसी सुकोमल वनस्पति खाए तो अतिचार।

उपभोग परिभोग वस्तुएँ जो २६ प्रकार की बताई गई हैं उनकी आय—किसी न किसी उद्योग धन्धे से ही हो सकती है, अतः भगवान् महावीर ने १५ प्रकार के उद्योग धन्धे बिल्कुल वर्जित किए हैं। क्योंकि १५ प्रकार का पेशा करना, आदर्श गृहस्थ के लिए सर्वथा निषिद्ध है। इनसे महा अशुभ कर्मों का उपार्जन होता है, विचार सदैव मलिन रहते हैं, इनसे अधर्म आजीविका होती है। वे १५ कर्मादान निम्न-लिखित हैं।

१. *अंगार कर्म*—कोयले बनाना, ईंटों का पकाना, धमनी भट्टी लगाना, जिसमें धातुएँ पिघलाई जाती हैं, लुहार का काम, जो अग्नि के प्रयोग से व्यापार आदि किए जाएँ, वे सब इसी में अन्तर्भूत है।

२. *वनकर्म*—वन काटना या कटवाने का ठेका लेना, वृक्षों को कटवाने का ठेका लेना, घास कटवाने का ठेका लेना।

३. *शकट कर्म*—गाड़ी, बग्गी, मोटर, तांगे, रिक्षा वगैरह बना कर या बनवा कर बेचना। इनके बनाने के लिए विशेष प्रकार के वृक्षों को काटना पड़ता है।

४. *भाटक कर्म*—पशुओं को भाड़े पर देना, जो किराये पर पशुओं को ले जाता है वह खिलाता-पिलाता कुछ नहीं पर काम अधिक लेता है और नहीं चलने से उन्हें अधिक मारता है, इसलिए बैल, ऊँट, घोड़ा, खच्चर आदि पशुओं को भाड़े देने से महापाप लगता है।

५. *स्फोटककर्म*—भूमि खोदने का कर्म करना, जैसे खान आदि का खुदवाना पत्थर, कोयले भूमि को खोद-खोद कर निकलवा कर बेचना, नहर व बज्जरी के लिए भूमि खोदने का ठेका लेना आदि।

६. *दन्तवाणिज्य*—जितने भी पशुओं के अवयव हैं, उनसे आजीविका करना, जैसे दांत, रोम, सींग, चमर, चर्म, नख इत्यादि निषिद्ध वाणिज्य न करे, क्योंकि जो हिंसक, उक्त वस्तु के लिए पशु पक्षियों को मारते हैं: उस पाप के भागी, वे भी बनते हैं, जो उन्हें बेचते हैं।

७. *लाक्षवाणिज्य*—लाख आदि जंगलों से निकालना और उसे बेचना, क्योंकि लाख में लाखों त्रस जीवों का घात होता है।

८. *रसवाणिज्य*—शराब निकालना और उसके बेचने का ठेका लेना, सिरका निकालना, बेचना इत्यादि।

९. *केशवाणिज्य*—केश वाले पशु पक्षियों को बेचना, जैसे—भेड़, बकरी, दुंबा, मुर्गे, गाय, भैंस बतक इत्यादि पशु पक्षियों

को पशु मण्डी से खरीद कर आगे जाकर कहीं वेचना, अतः ऐसा पेशा भी श्रावक के लिए बहुत निषिद्ध है।

१०. विषवाणिज्य—अस्त्र-शस्त्र बना कर वेचना, संखिया, जहर, अफीम आदि वेचना इत्यादि।

११. यंत्रपीडन कर्म—पिलाई की मशीन लगाना, घराट्ट का ठेका लेना, तिल सरसों तथा ईख आदि पीलने का काम करना।

१२. *निर्लाञ्छन कर्म*—बैल आदि पशुओं को नपुंसक बनाने का काम करना।

१३. दावाग्नि-दान कर्म—किसी सरकार की ओर से या किसी धनाढ्य व्यक्ति की ओर से होने वाले धनादि लाभ के कारण खड़ी खेती को आग लगाना या बीमे के लोभ में कारखाने को आग लगाना या नए घास की उत्पत्ति के लिए या धर्म समझ कर जंगल में आग लगाना। आग लगाने से असंख्य प्राणियों का घात होता है। अतः किसी भी प्रलोभन से जंगल में आग नहीं लगानी चाहिए।

१४. सर-हृद-ताडाग परिशोषणताकर्म—नहर, बावड़ी, सरोवर, नदी, कुआं आदि सुखाने का ठेका लेना।

१५. असतीजन पोषणता कर्म—मांसाहारी जानवरों को पालना, बूचड़ और कसाइयों के साथ व्यापार करना, त्रसजीव हिंसकप्राणियों का भरण पोषण करना, अथवा किन्हीं अनाथ स्त्रियों तथा कन्याओं को पाल कर उनसे वेश्या का काम करवाना। अर्थलोभ से डाकू, चोर, बदमाश आदि की सहायता करना, उन्हें शरण देना, उनका पोषण करना ये सब कर्मादान हैं।

श्रावक का अनर्थदण्ड-विरमण-व्रत

गृहस्थ जीवन अर्थदण्ड से सुरक्षित नहीं रहता क्योंकि शरीर, कुटुम्ब, पालतू पशु, परिजन आदि जितने भी स्वाश्रित हैं, उन सभी का भरण-पोषण-रक्षण और शिक्षण आदि क्रिया के निमित्त, छहकाय का आरम्भ विवशता से करना पड़ता है। ऐसा किए बिना गृहस्थ जीवन नहीं चल सकता, फिर भी यथाशक्य अर्थदण्ड का भी नित्यप्रति संकोच करे और वक्त आने पर सर्वथा त्याग करने की भावना भी रक्खे। पाप को पाप ही समझे। अर्थदण्ड करता हुआ भी अपने आपको निष्पाप न समझे, किन्तु अनर्थदण्ड का तो सर्वथा त्याग ही होना चाहिए। जिससे किसी भी प्रकार से अर्थ सिद्ध न हो और व्यर्थ ही पाप का भागी बन जाए, उसी को अनर्थदण्ड कहते हैं।

अनर्थदण्ड चार प्रकार का होता है, जैसे कि—

१. *अपध्यानाचरण*—आर्त तथा रौद्र ध्यान में मग्न रहना अर्थात् अपनी चिंता और दूसरों की बुराई सोचना अपध्यान है। 'वास्तव में सुख-दुःख कर्माधीन हैं तो फल की सिद्धि न होने पर चिंता और शोक क्यों? वह कर्म अवश्यमेव उदय होकर फल देगा ही, ऐसे शुभ ध्यान से अपध्यान का निराकरण करे।

२. *प्रमादाचरण*—धर्म से विपरीत जितनी भी क्रियाएँ हैं, उसी का नाम प्रमादाचरण है। धर्म क्रिया करने में आलस्य और लापरवाही रखना तथा नाटक, सिनेमा, नृत्य आदि अशुभ क्रियाओं में सतत उद्यमशील बने रहना, अहंकार करना, विषयासक्त रहना, कषाय की पुनः पुनः उदीरणा करना, विकथाओं में समय व्यतीत करना, हिंसाकारी तरल पदार्थों

करवानी भी नहीं, किन्तु उपदेश करने में क्या हानि है ? आदेश नहीं करना। इस भयंकर समझ को खतम करने के लिए भगवान् ने पापकर्म का उपदेश करना भी अनर्थदण्ड ही बताया है।

इस व्रत के पांच अतिचार हैं जोकि सर्वथा हेय हैं, उन्हें जानना तो अवश्य चाहिए किन्तु आचरण में लाने से इस व्रत की नींव हिल जाती है, इसके हिलने से पूर्वोक्त सात व्रत भी डांवाडोल हो जाते हैं; अतः अतिचारों का स्वरूप जानकर उन से दूर ही रहना चाहिए तभी व्रत सुरक्षित रह सकते हैं।

१. कन्दर्प—जिससे काम चेष्टा अपने में और दूसरों में पैदा हो, ऐसे काम सूत्र का, काव्यों का अध्ययन करना, कोकशास्त्रों के गन्दे चित्र देखना, खेल-तमाशे, सिनेमा, कंजरियों का नृत्य देखना, इन सब का उक्त अतिचार में अन्तर्भाव हो जाता है।

२. कौत्कुच्य—श्रावक का दर्जा अन्य लोगों से बहुत ऊंचा होता है, अतः उसे अपनी पोजिशन ठीक रखनी चाहिए। भांडों की तरह, मश्करों की तरह, बेशर्म, बेहया होकर कुचेष्टाएं करके, अभिनय आदि से दूसरों को हँसाना, अश्लील कुचेष्टाएं करना, नृत्य वगैरह करना, विदूषक का पार्ट लेना, ये सब उक्त अतिचार में शामिल हैं।

३, मौखर्य—बिना विचारे बोलना, असंबद्ध वचन बोलना जिससे मित्र भी शत्रु बन जाए, ऐसे वचन बोलना जिससे धर्म की हिलना निन्दना हो। ये सब अतिचार हैं, जोकि उक्त बोल में सम्मिलित हैं।

४. *संयुक्त अधिकरण*—जिन उपकरणों के संयोग से हिंसा होने की सम्भावना रहती हो, उनका अन्तर्भाव इसी अतिचार में किया है, जैसे कि कुल्हाड़ी के साथ हाथा, तीर के साथ धनुष, बन्दूक या पिस्तौल के साथ कारतूस, मूसल के साथ फाले के साथ हल ऊखल, जोड़कर रखना इसको संयुक्त अधिकरण कहते हैं।

५. *उपभोगपरिभोगातिरिक्त*—अपने शरीर के लिए जिन पदार्थों के उपभोग तथा परिभोग के लिए आवश्यकता हो, उससे अधिक संग्रह करना निषिद्ध है। अधिक वस्तु रखने से अन्य को मांगने का अवसर प्राप्त हो जाता है, जो कि हिंसादि अशुभ क्रियाओं में प्रवृत्त हैं। यदि होते हुए इन्कार करें तो झूठ लगता है, नहीं देने से लोक-व्यवहार कटु हो जाता है, इसलिए अधिक मात्रा में रखने से अनर्थ हो जाने की सम्भावना रहती है, अतः आवश्यकता के अनुसार वस्तु रखने से अपना सत्य भी कायम रहता है, लोकव्यवहार भी कटु नहीं होने पाता, वे भी समझ जाते हैं कि इनके पास फालतू नहीं है। इसलिए श्रमणोपासक जिन कारणों से, जिन परिस्थितियों से अनर्थ दण्ड हो जाए उनका सेवन न करे।

शस्त्र अस्त्रों को संयुक्त रखने से सम्भव है कोई हिंसा में प्रवृत्त हो जाए। इससे अनर्थ हो जाने की सम्भावना रहती है।

दूसरी प्रतिमा में उपर्युक्त आठ व्रतों की आराधना सविशेष की जाती है, शेष चार शिक्षाव्रतों की आराधना परिस्थिति वश सम्यक्तया पालन नहीं हो पाती, किन्तु उसकी चार शिक्षाव्रतों पर श्रद्धा प्ररूपणा ठीक होने से वह १२ व्रती ही कहा जाता है, जैसे कि आनन्द आदि दस श्रमणोपासकों ने भगवान् के पास आठ ही व्रत धारण किए थे, सामायिक आदि चार व्रत

नहीं, फिर भी उनकी श्रद्धा प्ररूपणा सर्वदा ठीक होने से उन्हें बारह व्रती श्रमणोपासक कहा है जैसे कि आगम में पाठ आता है—

'दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जइ।'

आनन्द गाथापति बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म अंगीकार करता है। सम्यग्दर्शनसहित पांच अणुव्रतों की आराधना आयु के प्रत्येक क्षण के साथ की जाती है, तीन गुणव्रतों की आराधना कारण पड़ने पर की जाती है, परन्तु चार शिक्षाव्रतों की आराधना प्रतिक्षण नहीं हो सकती, जब कभी पुण्ययोग से सुअवसर प्राप्त हुआ तब उनकी आराधना भी अवश्य करे। अणुव्रत और गुणव्रत के बिना व्यावहारिक जीवन उन्नत एवं प्रामाणिक नहीं बन सकता इसी कारण आनन्दगाथापति ने आठ ही व्रत धारण किए हैं जिनका पालन करना श्रावक के लिए अनिवार्य है।

श्रावक के आठवें व्रत तक ही दूसरी प्रतिमा का संबंध है।
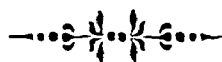
तीसरा सोपान

श्रावक का नौवां सामायिक व्रत

जो श्रमणोपासक, आठ व्रतों की आराधना तो पूर्णतया करते हैं, किन्तु सामायिक तथा देशावकाशिक इन दो व्रतों की नियमित तथा निरतिचार रूप से आराधना एवं पालन नहीं करते, यदि उन्हें कभी सुअवसर प्राप्त हो, तो तीन महीनों के लिए यथाशक्य तीसरी पडिमा धारण करनी चाहिए। तीसरी पडिमा की जघन्य तीन दिन, उत्कृष्ठ तीन महीने तक आराधना की जा सकती है।

सामायिक सभी गुणों का भाजन है; जैसे कि—आकाश सभी द्रव्यों का भाजन है। छह आवश्यकों में सब से पहला आवश्यक सामायिक ही है। पांच चारित्रों में सब से पहला चारित्र सामायिक है। सामायिकचारित्र सम्पन्न व्यक्ति ही छेदोपस्थापनीय तथा सूक्ष्मसंपराय चारित्र इन में से किसी एक को धारण कर सकता है। जैन परिभाषा में सामायिक चारित्र को धारण एव पालन करने वाले व्यक्ति सदाकाल से चले आ रहे हैं।

तीर्थंकर भी सब से पहले सामायिक चारित्र ही स्वीकार करते हैं। पांच चारित्रों में एक सामायिक चारित्र ही ऐसा है—जिसके देश और सर्व रूप से दो भाग किए जा सकते हैं; अन्य चार प्रकार के चारित्रों के दो भाग उपर्युक्त शैली से नहीं किए जा सकते। इस दृष्टि से छह आवश्यकों में सर्व प्रथम-

स्थान सामायिक को ही दिया है, क्योंकि यह सभी चारित्रों का मूल कारण है। इसके बिना कोई भी चारित्र धारण नहीं किया जा सकता है।

सामायिक का शाब्दिक अर्थ

सम्-आय-इक, इन तीनों के समुदाय से सामायिक शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है—राग, द्वेष से विमुक्त होकर सभी में समान भाव रखना। सभी प्राणियों को आत्मवत् जानना व देखना—सामायिक है, अथवा राग, द्वेष के वश न होकर इन दोनों से तटस्थ रहना, सब के साथ आत्म तुल्य व्यवहार करना, जितने समय तक ज्ञान आदि सद्गुणों की वृद्धि, संवर तथा निर्जरा का सर्वोत्तम लाभ होता रहे, उसे सामायिक कहते हैं। अथवा प्रतिक्षण अपूर्व ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि पर्यायों से—जोकि भव अटवी में घुमाने वाले कर्मों को जड़ मूल से काट कर, निरुपम सुख देने वाले हैं, उनके साथ सम्बन्ध जोड़ना सामायिक है अथवा विशुद्धोपयोग का जितनी देर तक निरन्तर लाभ होता रहे, उतने काल को सामायिक कहते हैं। इस के तीन भेद हैं, जैसे कि—सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक और चारित्र सामायिक।

उक्त तीनों के द्वारा ही समभाव में स्थिर रहा जा सकता है। समता, मध्यस्थता, सम्यक्त्व, शान्ति ये शब्द सामायिक के पर्यायान्तर नाम हैं।

सामायिक की आराधना, विधि और निषेध, इस प्रकार दो तरह से की जा सकती है। सावद्य योग विरति=अर्थात् मन, वचन और काय के अशुभ व्यापार का परित्याग करना ही सावद्य योग विरति है। इसकी आराधना कम से कम ४८

मिनट तक या आयुपर्यन्त निरन्तर स्वरूपाचरण में रमण करना और जो उसके बाधक हैं, उन्हें हेय समझ कर त्याग करना ही निवृत्ति प्रधान सामायिक है।

दो घड़ी (४८ मिनट) तक एक आसन पर बैठे रहना, इतने समय में आत्मतत्त्व की विचारणा, जीवन शोधन के लिए पर्यालोचन, जीवन विकास करना धर्मशास्त्रों का परिशीलन, आध्यात्मिक स्वाध्याय, पंच परमेष्ठी का प्रणिधान, इस प्रकार अपनी विशुद्ध मति श्रद्धा एवं शक्ति के अनुसार शुद्धोपयोग में प्रवृत्ति करना, विधि रूप सामायिक है। सामायिकविशुद्धि द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव इन चारों पर निर्भर है। निरतिचार सामायिक तभी हो सकती है, जब कि उक्त चार साधन शुद्ध हों। इन्हीं को शुद्ध उपाय भी कहते हैं। इनकी व्याख्या निम्न-लिखित है—

१. *द्रव्य शुद्ध*—सामायिक का उपकरण शुद्ध होना चाहिए, शरीर, वेष, उपकरण ये विशुद्ध होने चाहिए। जैसी वर्दी इन्सान पहनता है, उससे जीवन को वैसी प्रेरणा मिलती है। सामायिक का वेष शुद्ध तथा सादा होना चाहिए। उसे सामायिक में ही या पोषधोपवास में ही पहनना चाहिए।

बहुत-सी बाइयां समझती हैं कि हमारे लिए वेष परिवर्तन करना सामायिक में आवश्यक नहीं है, पुरुषों के लिए ही आज्ञा है, हमारे लिए नहीं। इसी कारण जिस वेष-भूषा में वे घर के काम करतीं हैं, पति को रिझाती हैं, शादी और मेले में जाती हैं, उन्हीं चमकीले-भड़कीले वस्त्रों को पहन कर उपाश्रय में सामायिक कर लेती हैं—यह ठीक नहीं है। इसलिए वेष सादा होना चाहिए, कम से कम सामायिक में तो सादगी का अभ्यास

होना चाहिए। कतिपय बाइयां गन्दे वस्त्रों सहित सामायिक करती है, जिन्ह वस्त्रों में बच्चों ने मलमूत्र किया हो, बदबू आता हो, मैले कुचैले हों ऐसे वेष का प्रभाव सामायिक में अच्छा नहीं पड़ता। इसलिए उपकरण व वेष शुद्ध होने चाहिएं। जिससे अपने जीवन पर भी अच्छा असर पड़े और देखने वाले को भी श्रद्धा बढ़े।

२. *क्षेत्रशुद्ध*—जिस क्षेत्र में अथवा स्थान में रहकर स्वाध्याय न कर सके, मन को बुराइयों से न रोक सके, कोलाहल होता हो, बहुतों के आने जाने से मन क्षुब्ध होता हो, जहां शोक, मोह, ममता संक्लेश बढ़ता हो, वह क्षेत्र सामायिक के लिए उपयोगी नहीं होता। जो क्षेत्र एकान्त स्वच्छ शान्तिप्रद हो, वही क्षेत्र सामायिक के लिए श्रेष्ठ है।

३. *कालशुद्ध*— संध्या के समय में प्रतिक्रमण किया जाता है, इसलिए सामायिक करने के लिए प्रातः और सायं, ये दो समय निश्चित हैं अथवा जिस समय में सभी प्रकार के झंझटों से हट कर रत्नत्रय की आराधना कर सके, वही काल शुद्ध है। यदि कोई नियत समय पर दृढ़ता के साथ सामायिक करे, तो यह भी मन को वश में करने का एक सफल उपाय है।

४. *भावशुद्ध*—लज्जा से, भय से लालच से, की हुई सामायिक विशेष फलप्रद नहीं होती। अतः आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान से निवृत्त होकर धर्म ध्यान में समय व्यतीत करना, सद् उपदेश सुनना, स्वाध्याय करना, पढ़ने सुनने में, सीखने सीखाने में समय लगाना जिससे धर्म ध्यान में ही मन लगा रहे एवं अशुभ ध्यान करने का अवसर ही न मिले। यही भावशुद्ध कहलाता है।

द्रव्य, क्षेत्र और काल ये तीनों, भावशुद्धि और अशुद्धि में सहायक हैं। यदि तीनों शुद्ध हों, तो भावों में भी शुद्धि हो सकती है।

पांच अतिचारों से सामायिक दूषित हो जाती है। जब व्यक्ति निठल्ला बन कर बैठता है, तब उसे बुराइयां ही सूझती हैं, उनसे अतिचार लगते हैं। वे पांच अतिचार निम्न-लिखित हैं।

१. *मनोदुष्प्रणिधान*—मन में सावद्य क्रिया का अनुचिन्तन करना। विकथाओं के चिन्तन में, कषाय भाव में, विषय में, शोक में, हिंसा में, असत्य में, चोरी में मन लगाना, मनः दुष्प्रणिधान कहलाता है।

२. *वागदुष्प्रणिधान*—वचन से दोष लगाना, झूठ बोलना, अश्लील वचन बोलना, बिना विचारे बोलना, असभ्य वचन बोलना, विषय कषाय के वशीभूत वचन बोलना वचन दुष्प्रणिधान अतिचार है।

३. *कायदुष्प्रणिधान*—अयत्ना से खड़ा होना, बैठना, चलना आदि।

४. *स्मृति-अकरण*—सामायिक की स्मृति भूल जाना। अपनी सामायिक की स्मृति का होना अनिवार्य है। स्मृति होने पर ही दोषों से सामायिक सुरक्षित रह सकता है। मैंने सामायिक कर ली है या नहीं? पार ली है? या नहीं? अथवा दोष लगते समय सामायिक की स्मृति न रखना अतिचार है।

५. *अनवस्थित करण*—सामायिक व्यवस्था पूर्वक न करना, काल पूर्ण किए बिना पहले ही पार लेना भी अतिचार है।

श्रावक का दसवां दिशावकाशिकव्रत

दिशावकाशिक दसवां व्रत स्वतन्त्र नहीं है। जो छठे व्रत में छह दिशाओं की मर्यादा यावज्जीवन-पर्यन्त धारण कर रखी है, उसी को कुछ घण्टों के लिए या कुछ दिनों के लिए विशेष परिमित करना—बहुत कुछ संकुचित करना ही इस व्रत का उद्देश्य है। दिशाएं संकुचित करने से पांचों आश्रवों के द्वार विशेष रूप से बन्द हो जाते हैं। एक के बन्द हो जाने से पांचों आश्रव रुक जाते हैं, जितना क्षेत्र खुला है, उतने हिस्से में जो आश्रव सेवन किए जाते हैं, सिर्फ उतनी ही क्रिया का भागी श्रावक बनता है।

इस व्रत को देशावकाशिक भी कहते हैं। इसका अर्थ होता है—पच्चक्खाण उपरान्त जो आश्रव खुले रखे हुए हैं अर्थात् जितने हिस्से का त्याग नहीं किया, उस का यथाशक्य अहोरात्र के लिए संकुचित करना—देशावकाशिक कहलाता है।

अथवा छठे और सातवें व्रत में जो मर्यादा यावज्जीवन के लिए धारण की हुई है, उस मर्यादा को अत्यधिक सीमित करना ही इस व्रत का मुख्य उद्देश्य है। जितना आवश्यक हो, उतना रखकर उपरान्त का कुछ निश्चित काल के लिए त्याग देना अथवा १४ नियमों को प्रातः सायं दैनिक-चर्या तथा रात्रि-चर्या के अनुसार क्षेत्र मर्यादा और उपभोग परिभोग आवश्यकता के अनुसार रख कर अनावश्यक का त्याग करना, क्योंकि आवश्यकता हर समय में एक-सी नहीं रहती। ज्यों-ज्यों इच्छा का निरोध करता जाता है, त्यों-त्यों आवश्यकता भी घटती जाती है। इच्छा निरोध इस व्रत का अनन्तर फल है और अहिंसक अपरिग्रही बनने का अभ्यास करना, यह परम्पर फल है।

मर्यादित भूमि से बाहर न जाना, न किसी को बुलाना, न क्रय-विक्रय करना न दूसरे से कोई चीज मंगवाना और न भेजना। इस व्रत से असीम तृष्णा को ससीम किया जाता है यह व्रत निम्नलिखित पांच प्रकार के अतिचारों से दूषित होता है, अतः इनको जानना अवश्य चाहिए, परन्तु आचरण में नहीं लाना चाहिए। वे पाँच अतिचार निम्नलिखित है, जैसे कि—

१. *आनयन प्रयोग*—अपने मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मंगवाना, लाना, किसी को बुलाना अतिचार है।

२. *प्रेष्य प्रयोग*—दूसरे के द्वारा भेजना या भिजवाना, पार्सल, रजिस्ट्री, कार्ड, तार, टेलीफोन, वायरलैस आदि मर्यादित क्षेत्र से बाहर भेजना प्रेष्य प्रयोग अतिचार है।

३. *शब्दानुपाती*—यदि कोई मनुष्य मर्यादित क्षेत्र से बाहर खड़ा है। और उससे कोई विशेष बात करनी हो, उसको मिलने की अधिक उत्कण्ठा हो या उससे कोई विशेष सलाह मशविरा करना हो, तो उस समय उस व्यक्ति को मर्यादित क्षेत्र में लाने के लिए जोर से पढ़ना, बिना ही खांसी के खांसना, अतिचार है, क्योंकि यह माया है। माया का सेवन इस लिए कर रहा है कि सीधे ढंग से आह्वान करने का उसका त्याग है। जिस शब्द से सुनने वाला उसके अभिप्राय के अनुसार आरम्भ समारम्भ में लग जाए, वैसा शब्द करना, खाद्य वस्तु पड़ी हो उसे खाने के लिए कुत्ता या बिल्ला यदि आ गया हो, तो दूसरों को सावधान करने के लिए कहना, 'कुत्ता आगया' 'चोर आगया' 'वर्षा से' आंगड़ में नाला बहाव होने लग गया', इत्यादि शब्द कह कर मर्यादित क्षेत्र से

बाहर वालों को—मायाचारी से शब्द प्रयोग करके अपने अभिप्राय को जतलाना अतिचार है।

४. *रूपानुपाती*—मर्यादित क्षेत्र से बाहर रहे हुए लोगों को हाथ से, सिर से, आंख से, या मुंह से इशारा करना, जिस से लोग उसके इशारे को समझ कर आरम्भ समारम्भ में प्रवृत्त हो जाएं। अपने खाने या पीने की वस्तु पड़ी हो, उसे खाने के लिए कोई कुत्ता आ गया हो, उसे हटाने के लिए डण्डा दिखाना इत्यादि सभी चेष्टाएं माया से की जाती हैं, अतः यह अतिचार है।

५. *बाह्यपुद्गलप्रक्षेप*—अपनी मर्यादित भूमि से बाहर खड़े हुए व्यक्ति को अपना अभिप्राय जतलाने के लिए किसी पर कंकड़ फेंकना, कागज पर लिख कर फेंकना जिसे जानकर वह उसे पूरा करने के लिए आरम्भ समारम्भ आदि सावद्य क्रिया में संलग्न हो जाय। किसी को हटाने के लिए मिट्टी का ढेला फेंकना अथवा अन्दर से कूड़ा-कर्कट आदि पेशाब, थूक आदि या अनावश्यक वस्तु सीमा से बाहर फेंकना अतिचार है। समझ की गलती से, लालच से, भय से मायाचारी करना अतिचार हैं। जानते हुए भी फिर उसे करना अनाचार है।

तीसरी पडिमा वाला श्रमणोपासक सामायिक और देशावकाशिक व्रतों की आराधना तो निरतिचार करता है, अर्थात् दसवें व्रत तक सभी व्रतों की निर्दोष आराधना करता है, किन्तु शरीर की परिस्थिति के कारण या किसी अन्य विशेष कारण से नियमितरूपेण अष्टमी, चौदस, अमावस्या और पूर्णमासी को निरतिचार प्रतिपूर्ण पोषधोपवास नहीं करने पाता।

यह है तीसरी प्रतिमा का आद्योपान्त अनुष्ठान।

मर्यादित भूमि से बाहर न जाना, न किसी को बुलाना, न क्रय-विक्रय करना न दूसरे से कोई चीज मंगवाना और न भेजना। इस व्रत से असीम तृष्णा को ससीम किया जाता है। यह व्रत निम्नलिखित पांच प्रकार के अतिचारों से दूषित होता है, अतः उनको जानना अवश्य चाहिए, परन्तु आचरण में नहीं लाना चाहिए। वे पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं, जैसे कि—

१. *आनयन प्रयोग*—अपने मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मंगवाना, लाना, किसी को बुलाना अतिचार है।

२. *प्रेष्य प्रयोग*—दूसरेके द्वारा भेजना या भिजवाना, पार्सल, रजिस्ट्री, कार्ड, तार, टेलीफोन, वायरलेस आदि मर्यादित क्षेत्र से बाहर भेजना प्रेष्य प्रयोग अतिचार है।

३. *शब्दानुपाती*—यदि कोई मनुष्य मर्यादित क्षेत्र से बाहर खड़ा है। और उससे कोई विशेष बात करनी हो, उसको मिलने की अधिक उत्कण्ठा हो या उससे कोई विशेष सलाह मशविरा करना हो, तो उस समय उस व्यक्ति को मर्यादित क्षेत्र में लाने के लिए जोर से पढ़ना, बिना ही खांसी के खांसना, अतिचार है, क्योंकि यह माया है। माया का सेवन इस लिए कर रहा है कि सीधे ढंग से आह्वान करने का उसका त्याग है। जिस शब्द से सुनने वाला उसके अभिप्राय के अनुसार आरंभ समारंभ में लग जाए, वैसा शब्द करना, खाद्य वस्तु पड़ी हो उसे खाने के लिए कुत्ता या बिल्ला यदि आ गया हो, तो दूसरों को सावधान करने के लिए कहना, 'कुत्ता आगया' 'चोर आगया' 'वर्षा से' आंधड़ से माल खराब होने लग गया', इत्यादि शब्द कह कर मर्यादित क्षेत्र से

बाहर वालों को—मायाचारी से शब्द प्रयोग करके अपने अभि-प्राय को जतलना अतिचार है।

४. *रूपानुपाती*—मर्यादित क्षेत्र से बाहर रहे हुए लोगों को हाथ से, सिर से, आंख से, या मुंह से इशारा करना, जिस से लोग उसके इशारे को समझ कर आरम्भ समारम्भ में प्रवृत्त हो जाएं। अपने खाने या पीने की वस्तु पड़ी हो, उसे खाने के लिए कोई कुत्ता आ गया हो, उसे हटाने के लिए डण्डा दिखाना इत्यादि सभी चेष्टाएं माया से की जाती हैं, अतः यह अतिचार है।

५. *बाह्यपुद्गलप्रक्षेप*—अपनी मर्यादित भूमि से बाहर खड़े हुए व्यक्ति को अपना अभिप्राय जतलाने के लिए किसी पर कंकड़ फेंकना, कागज पर लिख कर फेंकना जिसे जानकर वह उसे पूरा करने के लिए आरम्भ समारम्भ आदि सावद्य क्रिया में संलग्न हो जाय। किसी को हटाने के लिए मिट्टी का ढेला फेंकना अथवा अन्दर से कूड़ा-कर्कट आदि पेशाब, थूक आदि या अनावश्यक वस्तु सीमा से बाहर फेंकना अतिचार है। समझ की गलती से, लालच से, भय से मायाचारी करना अतिचार है। जानते हुए भी फिर उसे करना अनाचार है।

तीसरी पडिमा वाला श्रमणोपासक सामायिक और देशा-वकाशिक व्रतों की आराधना तो निरतिचार करता है, अर्थात् दसवें व्रत तक सभी व्रतों की निर्दोष आराधना करता है, किन्तु शरीर की परिस्थिति के कारण या किसी अन्य विशेष कारण से नियमितरूपेण अष्टमी, चौदश, अमावस्या और पूर्णमासी को निरतिचार प्रतिपूर्ण पोषधोपवास नहीं बनने पाता।

यह है तीसरी प्रतिमा का आद्योपान्त अनुष्ठान।

चौथा सोपान

श्रावक का ग्यारहवां पौषधोपवास व्रत

जिस श्रमणोपासक ने क्रमशः पहली दूसरी एवं तीसरी पडिमा के नियम उपनियम तथा विधि विधान का यथाविधि पालन कर लिया हो और आगे बढ़ने के लिए श्रद्धा, धृति, बल, उत्साह और संवेग अधिक हो, तो वह चौथी पडिमा की आराधना करने का अधिकारी हो सकता है। जिन जिन पडिमाओं की आराधना करली है, उन सबका अनुष्ठान पहले की तरह चालू रक्खे और चौथी पडिमा में जो विशेष अनुष्ठान है उसे प्रारम्भ करे। चौथी पडिमा का नाम है—

"पोसहोववासनिरए, पौषधोपवासनिरत"

पर्व के दिनों में नियमपूर्वक निरतिचार पौषधोपवास करे। श्रावक के बारह व्रतों में से ग्यारहवां व्रत तथा चार शिक्षा व्रतों में से तीसरा पौषधोपवास व्रत है। अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, एवं पूर्णमासी आदि पर्व के दिनों में अहोरात्र के लिए प्रतिपूर्ण पौषध उपवास को सम्यक् प्रकार से पालन करना ही चौथी प्रतिमा संपन्न श्रावक का कर्तव्य है।

पौषधोपवास का शाब्दिक अर्थ

"पौषधे—उपवसनं पौषधोपवासः, नियम विशेषाभिधानं चेदं पौषधोपवासः"

पौषधशाला में रहकर धर्म को पुष्ट करने वाले विशेष-नियम सहित उपवास करना ही पौषधोपवास कहलाता है।

अथवा जिस से धर्म की पोषणा हो, ऐसे उपवास को पौषधोपवास कहते हैं।

अथवा जब गृहस्थ अहोरात्र के लिए या इस से भी अधिक समय के लिए साधु जीवन की भान्ति धर्मपरायण होता है, उतने समय को पौषधोपवास कहते हैं।

अथवा सब प्रकार की सांसारिक उपाधियों से दूर रहकर सर्वविरतिरूप धर्म की वानगी का रसास्वादन करना, सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ यथा विधि धर्म क्रिया करना, उतने समय में स्वाध्याय, धर्मध्यान, आत्मचिन्तन, ज्ञानगोष्ठी, कषायजय, इन्द्रियजय एवं मनोनिग्रह आदि धर्मक्रिया करना-पौषधोपवास है।

इस पडिमा को स्वीकार एवं पालन करने पर आत्मा का उत्थान होता है, परम शांति एवं उत्तमसमाधि प्राप्त होती है।

पौषधोपवास के भेद और उनकी व्याख्या

पौषधोपास चार प्रकार का होता है जैसे कि—

१. आहार परित्याग पौषध।

२. शरीर सत्कार परित्याग पौषध।

३. अब्रह्मचर्य परित्याग पौषध।

४. सावद्य व्यापार परित्याग पौषध।

इनकी व्याख्या निम्नलिखित है:—

(१) प्राणों को धारण करने के लिए,आहार किया जाता

है, आहार करने से साम्परायिकक्रिया वाले मनुष्य के शरीर में कामादिक विकारों का जन्म कदाचित् अनिवार्य हो जाता है। उन विकारों को शमन करने के लिए निश्चित समय में धर्मानुष्ठान पूर्वक उपवास आदि करना आहार त्याग पौषध कहलाता है। वह दो प्रकार का होता है. एक देशतः और दूसरा सर्वतः। यदि किसी से क्षुधा वेदनीय परीषह नहीं जीता जा सके, तो शरीर को भाड़ा देने के लिए एकासना एकलठाणा, निविग्गइ, आयंबिल आदि से धर्म को पोषणा करना—देशतः आहार त्याग पौषध कहलाता है।

चतुर्विध आहार का त्याग करना-सर्वतः आहार त्याग पौषध कहलाता है। आहार चार प्रकार का होता है—अशन, पान, खादिम स्वादिम।

(१) धान्य २४ प्रकार का होता है। उनकी बनी हुई अनेक प्रकार की किस्मे हैं, जैसे-रोटी, बाटी, डबलरोटी, दलिया, थूली, दाल, चावल, भुने हुए दाने, खाचड़ी इत्यादि सभी वस्तुओं का समावेश अशन में हो जाता है।

(२) अचित्त जल २१ प्रकार का होता है, जिनका पूर्णविवरण आचाराङ्ग सूत्र में वर्णित है। उन सभी का अन्तर्भाव पान में हो जाता है।

(३) अन्न के विना अन्य वस्तुएं जिन से भूख मिट जाए, जैसे कि दूध, दही, मक्खन खांड, गुड़, शक्कर, मिश्री, इक्षुरस, खोआ, कलाकन्द, पेड़ा, बर्फी, मुरब्बा, फल, फलों का रस, सूखा मेवा, खजूर, जमीन के अन्दर पैदा होने वाली सभी वस्तुएं, तैल इत्यादि वस्तुओं का समावेश स्वादिम में हो जाता है।

(४) नमक, मिर्च, सूंठ, चूर्ण, दालचीनी, लोंग, सुपारी, इलायची, पान, सौंफ, आचार, चटनी, मसाला, शाक आदि जिन को भूख मिटाने के लिए नहीं खाया जाता है, ऐसी—केवल मुख को स्वाद करने वाली सभी वस्तुओं का समावेश स्वादिम में हो जाता है।

कुछ ऐसी वस्तुएं भी होतीं हैं जो कि मिलावट से बनती हैं जैसे कि—

अशनं का पानं के साथ मिलावट, यव का पानी, चणों का पानी, चावलों का पानी, दाल का पानी इत्यादि।

(२) असनं का स्वादिम के साथ मिलावट, जैसे कि दाल, भुजिया, पापड़, बड़े, पकौड़े इत्यादि।

(३) असनं का खादिम के साथ मिश्रण, जैसे कि खीर, हलुआ, मिष्टान्न, पूड़े, परोंठे इत्यादि।

(४) पानं का खादिम के साथ मेल जैसे कि—लेमन, सोड़ा, शकंज्वी, शर्बत, चाय, ठंडाई, छाछ, अर्क इत्यादि।

(५) पानं का स्वादिम के साथ मेल, जैसे काढा, कांजी इत्यादि।

(६) खादिम का स्वादिम के साथ मेल, जैसे कि चाट, आचार, रायता, मसालेदार मठा, इत्यादि।

उपर्युक्त चारों प्रकार के आहारों में से चाहे वह स्वतन्त्र आहार हो या संमिश्रण हो, जो सचित आहार है उसका पौषधोपवास में दो करण तीन योग से परित्याग होता है। इसके अतिरिक्त जो अचित आहार है, उसका परित्याग जितना

हो सके कर सकता है। एक आहार का त्याग करना, दो का और तीन का त्याग करना—देशतः पौषध है।

२. दूसरा भेद है शरीर सत्कार परित्याग पौषध।

शृंगार सोलह प्रकार का होता है। स्नान, मंजन, दातौन, उबटन, विलेपन, पुष्प, इतर, फुलेल, अलंकार, बहुमूल्यवस्त्र, इत्यादि शृंगारवर्द्धक वस्तुओं का प्रयोग, पौषधोपवास में नहीं करना। जो भूषण नित्यप्रति पहने ही रहते हैं, जिन्हें जल्दी उतारा नहीं जा सकता है, इस प्रकार के भूषणों का आगार रख कर पौषध में अन्य भूषण पहनने का स्पष्ट निषेध है।

१६ प्रकार के सिंगारों में से कुछ एक रख कर उपरान्त का त्याग करना देशतः शरीरसत्कार त्याग पौषध कहलाता है। सभी प्रकार के सिंगारों का सर्वथा परित्याग करना सर्वतः शरीर सत्कार त्याग पौषधोवास कहलाता है।

३. तीसरा भेद है—अब्रह्मचर्य सेवन परित्याग पौषध।

गृहस्थ आश्रम में ब्रह्मचर्य का पालन तीन प्रकार से किया जाता है। जिसके साथ विवाह हुआ है उसके अतिरिक्त सभी प्रकार के मैथुन का एक करण और एक योग से त्याग करना यह है चौथा अणुव्रत।

जिसके साथ विवाह हुआ है, उसपर भी एक दिन के लिए, दो दिन के लिए यावत् महीने के लिए या दूज, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, पक्खी, प्रत्येक पक्ष में ये ६ तिथियां टालनी, और पूर्णतया सन्तोष धारण करना, इसको देशतः ब्रह्मचर्य पौषध कहते हैं। इसमें मैथुन सेवन का प्रत्याख्यान १ करण, ३ योग से किया जाता है।

जब उपवास सहित ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है,

तब मैथुन का प्रत्याख्यान दो करण, तीन योग से किया जाता है। इसी को सर्वतः ब्रह्मचर्य पौषध उपवास कहते हैं।

४. सावद्य व्यापार परित्याग पौषध—

पहले अणुव्रत में सिर्फ त्रस जीव की हिंसा का संकल्प से त्याग होता है। आरम्भी उद्योगी और विरोधी हिंसा का त्याग नहीं होता, मात्र संकल्पी हिंसा का त्याग होता है। सातवें व्रत में मर्यादा उपरांत पांच स्थावरों की हिंसा का त्याग होता है—मर्यादा के अन्तर्गत का नहीं, किन्तु आजीविका सम्बन्धी या गृहसम्बन्धी सावद्य क्रिया जैसे कि—कूटना, पीसना, पोड़ना, कृषि, वाणिज्य, उद्योग धंधा, शस्त्र, अस्त्र का प्रयोग करना, इन सबका परित्याग हो जाता है।

देशावकाशिक व्रत में उपर्युक्त सावद्य क्रिया का त्याग करना देशतः सावद्य क्रिया परित्याग पोषध है। किन्तु सर्वतः त्याग करना इसीको सर्वतः सावद्य व्यापार परित्याग पौषधो-पवास कहते हैं। चारों प्रकार के सर्वतः परित्याग रूप समुदाय को 'प्रतिपूर्ण-पौषधोपवास' कहते हैं।

अथवा-प्रतिपूर्ण पौषधोपवास भी देशतः और सर्वतः काल की अपेक्षा से दो भेद बन जाते हैं, जैसे कि—चार पहर के लिए या ५–६–७ पहर के लिए उपर्युक्त पौषधोपवास करना देशतः कहलाता है, तथा आठ पहर १६ एवं २४ पहर के लिए या इनसे भी अधिक पहर के लिए करना सर्वतः प्रतिपूर्ण पौषधोपवास होता है। प्रतिमाधारी श्रमणोपासक पौषधो-पवास का निरतिचार पालन करते हैं, अतिचार बिल्कुल नहीं लगाते। वे पांच अतिचार निम्नलिखित हैं।

(१) शय्या (मकान) संस्तारक (बिछौना) इनकी प्रतिलेखना

हो सके कर सकता है। एक आहार का त्याग करना, दो का और तीन का त्याग करना—देशतः पौषध है।

२. दूसराभेद है शरीर सत्कार परित्याग पौषध।

शृंगार सोलह प्रकार का होता है। स्नान, मंजन, दातौन, उबटन, विलेपन, पुष्प, इतर, फुलेल, अलंकार, बहुमूल्यवस्त्र, इत्यादि शृंगारवर्द्धक वस्तुओं का प्रयोग, पौषधोपवास में नहीं करना। जो भूषण नित्यप्रति पहने ही रहते हैं, जिन्हें जल्दी उतारा नहीं जा सकता है, इस प्रकार के भूषणों का आगार रख कर पौषध में अन्य भूषण पहनने का स्पष्ट निषेध है।

१६ प्रकार के सिंगारों में से कुछ एक रख कर उपरान्त का त्याग करना देशतः शरीरसत्कार त्याग पौषध कहलाता है। सभी प्रकार के सिंगारों का सर्वथा परित्याग करना सर्वतः शरीर सत्कार त्याग पौषधोवास कहलाता है।

३. तीसरा भेद है—अब्रह्मचर्य सेवन परित्याग पौषध।

गृहस्थ आश्रम में ब्रह्मचर्य का पालन तीन प्रकार से किया जाता है। जिसके साथ विवाह हुआ है उसके अतिरिक्त सभी प्रकार के मैथुन का एक करण और एक योग से त्याग करना यह है चौथा अणुव्रत।

जिसके साथ विवाह हुआ है, उसपर भी एक दिन के लिए, दो दिन के लिए यावत् महीने के लिए या दूज, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, पक्खी, प्रत्येक पक्ष में ये ६ तिथियां टालनी, और पूर्णतया सन्तोष धारण करना, इसको देशतः ब्रह्मचर्य पौषध कहते हैं। इसमें मैथुन सेवन का प्रत्याख्यान १ करण, ३ योग से किया जाता है।

जब उपवास सहित ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है,

न करना, यदि प्रतिलेखना की तो भलीभांति न करना अतिचार है। जीव रक्षा के उद्देश्य से एकाग्रचित्त से चक्षुओं के द्वारा पहले देखना फिर उसे अपने काम में लाना निरतिचार है।

(२) शय्या संस्तारक की, प्रमार्जना न करना, यदि करना तो भलीभांति न करना। प्रतिलेखना दिन में होती है और प्रमार्जन अधिकतर रात को की जाती है, क्योंकि रात्रि के समय अन्धकार होने से आंखों से भली भांति दीखता नहीं है।

(३) दिन में मल मूत्र की भूमि को विना देखे ही मलमूत्र परठना। जिस भूमि की प्रतिलेखना दिन में नहीं की, वहां पर रात को मलमूत्र आदि परठना नहीं कल्पता है, क्योंकि इससे त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का दोष लगता है। यदि विना उपयोग से की है तो भी दोष लगता है।

(४) जिस भूमि की प्रतिलेखना दिन में अच्छी प्रकार कर ली हो, वहां पर रात्रि के समय विना प्रमार्जना किए मलमूत्र आदि परठना या विना उपयोग हो प्रमार्जना करना या प्रमार्जना कहीं करना और परठना अन्यत्र कहीं यह अतिचार है। आजकल पोषधोपवास करने वाले उपर्युक्त अतिचारों पर बहुत कम ध्यान देते हैं।

(५) पोषधोपवास को सम्यक् प्रकार से पालन न करना, पोषध में विकथाएं करना, निदान करना, माया करना, मिथ्यात्व का सेवन करना, आर्त तथा रौद्र ध्यान ध्याना, निषिद्ध है। उनसे पोषधोपवास दूषित तथा मलिन हो जाता है, जिस प्रकार मलिन वस्तु की कीमत घट जाती है उसी प्रकार पोषध मलिन हो जाने से अधिक निर्जरा या पुण्यानुबन्धी पुण्य का कारण नहीं रहता है।

पांचवां सोपान

पांचवीं प्रतिमा

मार्ग दो प्रकार के होते हैं—सुमार्ग और कुमार्ग अथवा सन्मार्ग और उन्मार्ग। जो मार्ग यात्रियों को उद्देश्य स्थान में पहुंचाने के लिए सहायक हो वह सुमार्ग होता है। जो मार्ग सिर्फ भटकाने वाले हैं, वे कुमार्ग कहलाते हैं। एवं सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग हैं, अलग-अलग नहीं।

मिथ्यात्व अविरति और अज्ञान ये तीनों समुदाय रूप में या अलग-अलग रूप में उन्मार्ग ही हैं, सन्मार्ग नहीं जैसे राज्य की ओर से बना हुआ मार्ग, जितना सुगम सीधा तथा निरुपद्रव होता है उतना ही यात्रियों के लिए प्रशस्त होता है। इसी प्रकार अरहंत भगवन्तों ने अपने साधकों के लिए जो सन्मार्ग प्रदर्शित किया है, उसी पर चलकर अनन्त जीवों ने अपना जीवन, कल्याणमय बनाया है। वर्तमान में संख्यात तथा असंख्यात जीव कल्याण पथ पर चलकर अपना जीवन कृतार्थ कर रहे हैं। भविष्यत् में भी अनन्त जीव सन्मार्ग में चलकर जीवन कृतार्थ करेंगे।

सन्मार्ग पर चलने वाले यात्री भिन्न-भिन्न साधनों से दीर्घ मार्ग तय करते हैं। जैसे कोई व्यक्ति पंजाब प्रान्त के अन्तर्गत किसी ग्राम में रहता है, उसे अमरीका जाना है। पहले वह साधारण यान या वाहन आदि का आश्रय लेता है,

निर्जरा करता है। जब जीव अनन्तानुबंधी कषाय के समस्त दलिकों को अन्य कषाय रूप में परिणमाता है, तब अनन्तानुबंधी का विसंयोजन नामक चौथी गुणश्रेणि होती है। जब दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों को सर्वथा क्षय करता है, तब पांचवीं गुणश्रेणि कहलाती है। छठी गुणश्रेणि के स्वामी ८-९-१०वें गुणस्थान वर्ती जीव होते हैं। सातवीं गुणश्रेणि का स्वामी ११वें गुणस्थान में रहे हुए जीव होते हैं।

क्षपक श्रेणि में चारित्रमोहनीय का क्षपण करते हुए आठवीं गुणश्रेणि होती है। इसके स्वामी ८वें ९वें तथा १०वें गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं।

क्षीणमोह नामा ९वीं गुणश्रेणि १२वें गुणस्थान में होती है। सयोगी केवली नामा १०वीं गुणश्रेणि १३वें गुणस्थान मे होती है। अयोगी केवली ११वीं गुणश्रेणी १४वें गुणस्थान में होती है।

सविपाक निर्जरा से कोई भी जीव बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि इसमें परिमित कर्म दलिकों की ही निर्जरा हो सकती है। इसका दूसरा कारण यह भी है कि भोगजन्य निर्जरा, नवीन कर्म बन्ध का भी कारण है। किन्तु गुणश्रेणि के द्वारा उत्तरोत्तर असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। मिथ्या दृष्टि सकाम निर्जरा नहीं कर सकता, वह तो अकाम निर्जरा और शुभ कर्म का बन्ध कर सकता है। इससे सम्यग्दृष्टि जीव असंख्यात गुनी निर्जरा कर सकता है। अविरति सम्यग्दृष्टि से देशविरति श्रावक असंख्यात गुनी अधिक निर्जरा कर सकता है।

ज्यों-ज्यों देशविरति, उत्तरोत्तर प्रतिमाओं को विशुद्ध

निर्जरा करता है। जब जीव अनन्तानुबंधी कषाय के समस्त दलिकों को अन्य कषाय रूप में परिणमाता है, तब अनन्तानुबंधी का विसंयोजन नामक चौथी गुणश्रेणि होती है। जब दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों को सर्वथा क्षय करता है, तब पांचवीं गुणश्रेणि कहलाती है। छठी गुणश्रेणि के स्वामी ८-९-१०वें गुणस्थान वर्ती जीव होते हैं। सातवीं गुणश्रेणि का स्वामी ११वें गुणस्थान में रहे हुए जीव होते हैं।

क्षपक श्रेणि में चारित्रमोहनीय का क्षपण करते हुए आठवीं गुणश्रेणि होती है। इसके स्वामी ८वें ९वें तथा १०वें गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं।

क्षीणमोह नामा ९वीं गुणश्रेणि १२वें गुणस्थान में होती है। सयोगी केवली नामा १०वीं गुणश्र ण १३वें गुणस्थान में होती है। अयोगी केवली ११वीं गुणश्रेणी १४वें गुणस्थान में होती है।

सविपाक निर्जरा से कोई भी जीव बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि इससे परिमित कर्म दलिकों की ही निर्जरा हो सकती है। इसका दूसरा कारण यह भी है कि भोगजन्य निर्जरा, नवीन कर्म बन्ध का भी कारण है। किन्तु गुणश्रेणि के द्वारा उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। मिथ्या दृष्टि सकाम निर्जरा नहीं कर सकता, वह तो अकाम निर्जरा और शुभ कर्म का बन्ध कर सकता है। उससे सम्यग्दृष्टि जीव असंख्यात गुणी निर्जरा कर सकता है। अविरति सम्यग्दृष्टि से देशविरति श्रावक असंख्यात गुणी अधिक निर्जरा कर सकता है।

ज्यों-ज्यों देशविरति, उत्तरोत्तर प्रतिमाओं को विशुद्ध

आराधना करता जाता है, त्यों-त्यों निर्जरा भी अधिक से अधिक होती है।

वस्तु का यथार्थ बोध ही सम्यग् ज्ञान है। उसमें विशुद्ध श्रद्धा, प्रतीति, रुचि का होना सम्यग् दर्शन है, और उसी में सूत्रोक्त विधि निषेधों के अनुसार आचरण करना सम्यक् चारित्र है। निश्चयदृष्टि से उक्त तीनों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से ही बन्धन मुक्त हो सकता है। चौथी प्रतिमा में अभ्यस्त होने से पांचवीं प्रतिमा की आराधना करना बहुत सरल हो जाता है, किन्तु अनभ्यस्त दशा में वही कठिनतम मालूम होती है। जैसे किसी भी इतर व्यक्ति को सांड (गोधा) गोद में उठाना अति कठिन है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति अभी के पैदा हुए बछड़े को व्यायाम के समय दोनों वक्त नियमेन उठाता है। इसी क्रम से १२ महीने, तीस दिन उठाता ही रहे। तो ज्यों-ज्यों बछड़ा बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उस व्यक्ति की शक्ति भी बढ़ती ही जाती है। उठाने की तरकीब भी आती रहती है। जब वह बछड़ा महाकाय वाला वृषभ बन जाएगा, तब उठाने वाला उसे हेलया (सहज?) ही उठा सकता है। जैसे— अनाभ्यास दशा में कोई भी व्यक्ति एक अंगुली पर लाठी नहीं टिका सकता है, किन्तु अभ्यास दशा में अनेक क्षणों तक स्थिरता से टिका सकता है। वैसे ही अभ्यस्त व्यक्ति भी सुगमता से प्रतिमा की आराधना कर सकता है। पांचवीं प्रतिमा निम्नलिखित है।

दिया बंभयारी रत्तिं परिमाण कडे— पांचवीं प्रतिमा वाले को सर्वधर्म विषयक रुचि होती है, एवं उपर्युक्त सब व्रतों का सम्यक्तया पालन करता है। इस प्रतिमा में पांच बातें विशेष

निर्जरा करता है। जब जीव अनन्तानुबंधी कषाय के समस्त दलिकों को अन्य कषाय रूप में परिणमाता है, तब अनन्तानुबंधी का विसंयोजन नामक चौथी गुणश्रेणि होती है। जब दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों को सर्वथा क्षय करता है, तब पांचवीं गुणश्रेणि कहलाती है। छठी गुणश्रेणि के स्वामी ८-९-१०वें गुणस्थान वर्ती जीव होते हैं। सातवीं गुणश्रेणि का स्वामी ११वें गुणस्थान में रहे हुए जीव होते हैं।

क्षपक श्रेणि में चारित्रमोहनीय का क्षपण करते हुए आठवीं गुणश्रेणि होती है। इसके स्वामी ८वें ९वें तथा १०वें गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं।

क्षीणमोह नामा ९वीं गुणश्रेणि १२वें गुणस्थान में होती है। सयोगी केवली नामा १०वीं गुणश्र ण १३वें गुणस्थान में होती है। अयोगी केवली ११वीं गुणश्रेणो १४वें गुणस्थान में होती है।

सविपाक निर्जरा से कोई भी जीव बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि इससे परिमित कर्म दलिकों की ही निर्जरा हो सकती है। इसका दूसरा कारण यह भी है कि भोगजन्य निर्जरा, नवीन कर्म बन्ध का भी कारण है। किन्तु गुणश्रेणि के द्वारा उत्तरोत्तर असख्यात गुणी निर्जरा होती है। मिथ्या दृष्टि सकाम निर्जरा नहीं कर सकता, वह तो अकाम निर्जरा और शुभ कर्म का बन्ध कर सकता है। उससे सम्यग्दृष्टि जीव असंख्यात गुणी निर्जरा कर सकता है। अविरति सम्यग्दृष्टि से देशविरति श्रावक असंख्यात गुणी अधिक निर्जरा कर सकता है।

ज्यों-ज्यों देशविरति, उत्तरोत्तर प्रतिमाओं की विशुद्ध

रूप से धारण की जाती है:— १. स्नान नहीं करना २. रात्रि चारों आहार का त्याग करना ३. धोती की लांग नहीं दे ४. दिन में ब्रह्मचारी रहना और रात्रि में मैथुन की मर्यादा करना और ५. एक रात्रि की प्रतिमा का भी भली प्रकार पालन करना है। इस प्रकार से विचरता हुआ वह कम से कम एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लेकर अधिक से अधिक पांच मास तक निरंतर धर्मानुष्ठान में विचरता रहता है।

पर्व के दिनों में, कल्याणक तिथियों में, और रात्रि की कायोत्सर्ग प्रतिमा में सर्वथा ब्रह्मचर्य धारण किया जाता है। इन तिथियों के उपरान्त अन्य तिथियों में रात्रि के परिमाण का वर्णन समझना चाहिए।

शंका— वेदोदय होने का कोई निश्चित समय तो है ही नहीं, कभी तो उसका उदय खुली वृत्ति में भी नहीं होता, कभी त्याग वाले दिन भी उदय हो सकता है, तो तीव्रोदय के समय वेद का शमन कैसे करे?

समाधान— प्रतिमाधारी गृहस्थ, पर्व के दिनों में तप आदि करता है। तप का आचरण करते हुए वासना सहज ही शान्त रहती है। यदि उसमें भी उदय हो जाए तो उस पर काबू पाना बहुत आसान है। विजय चाहने वाला व्यक्ति सर्व प्रथम शत्रु बल को हीन बनाने का प्रयत्न करता है।

अपने बल की अपेक्षा शत्रु बल को जब हीन देखता है तब विजय इच्छुक को विजय पाने में बड़ी सुविधा रहती है। इसी प्रकार तप का आचरण करने से मोहनीय को पहले बलहीन किया जाता है। निर्बल शत्रु या तो आक्रमण ही नहीं करता, यदि हठ से कर लेता है तो विजयी के लिए उसे जीतना कोई

कायोत्सर्ग करे, एवं दूसरे पहर में दक्षिण की तरफ, तीसरे पहर में पश्चिम की ओर तथा चौथे पहर में उत्तर दिशा की ओर मुंह करके कायोत्सर्ग करे। वह भी पोषधोपवास के साथ ही।

उसमें पाठ, जाप, ध्यान, समाधि आदि किसी एक के द्वारा समय व्यतीत करे। उपर्युक्त इन साधनों का अवलम्बन साधक को अवश्य लेना चाहिए।

कण्ठस्थ किए हुए पाठ का स्मरण करना पाठ है। एक पाठ को पुनः-पुनः स्मरण करना जाप है। धर्म ध्यान के चार भेदों में से किसी एक भेद में मन को एकाग्र करना, धर्म ध्यान है।

मन वचन और काय में विषय कषाय न वर्तना या इनमें आर्त तथा रौद्र ध्यान का न होना इसे—समाधि कहते हैं।

धर्म ध्यान के चार भेदों की व्याख्या निम्नलिखित है।

१. अरिहन्त भगवन्तों की मेरे लिए क्या आज्ञा है ? और कैसी होनी चाहिए ? इसकी परीक्षा करके वैसी आज्ञा का पता लगाने के लिए मनोयोग देना। जिनका पालन हो सके उनका पालन करना और जिनका पालन न हो सके, उन पर श्रद्धा प्रतीतित रुचि सुदृढ़ रखना आज्ञाविचय धर्म ध्यान है।

२. दोषों के स्वरूप को जानना, अज्ञान एवं रागद्वेष, मोह आदि विकारों के नाश का उपाय क्या है ? इनसे छुटकारा कैसे हो सके ? कर्म प्रकृतियों के क्षय करने का अमोघ उपाय क्या है ? इस प्रकार के विचारों में मनोयोग देना अपायविचय धर्म ध्यान है।

३. अनुभव में आने वाले विपाकों में से कौन-कौन-सा विपाक किस-किस कर्म का आभारी है। कौन-सी कर्म प्रकृति

छठा सोपान

उपासक की छठी तिमा

जो श्रमणोपासक, पांचवीं प्रतिमा में पूर्ण अभ्यस्त हो गया है और साथ ही उस प्रतिमा का समय भी समाप्त हो गया, उस वक्त यदि उपासक के हृदय में उत्साह, श्रद्धा, संवेग अधिक हो, शरीर में शक्ति हो, परिस्थिति अनुकूल हो, तो वह आगे बढ़कर छठी प्रतिमा की आराधना कर सकता है। उसका स्वरूप और विधि विधान निम्नलिखित है।

दिवा वि राओ वि बंभयारी

छठी प्रतिमा में जब सर्वधर्म विषयक रुचि होती है। तब वह उपर्युक्त सभी व्रतों का सम्यक्तया पालन करता हुआ आगे चल कर पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

मन वचन काय की काम राग जनित प्रवृत्ति को अब्रह्म कहते हैं। जिस ओर जाने से सद्गुणों की वृद्धि न हो, केवल दोषों का ही पोषण हो, वह अब्रह्म कहलाता है, क्योंकि मैथुन प्रवृत्ति एक ऐसी चीज है कि उसमें पड़ते ही सम्पूर्ण दोषों का पोषण और सद्गुणों का शोषण (ह्रास) प्रारम्भ हो जाता है।

ऐसी दुष्प्रवृत्ति को बन्द कर देना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। जिसके पालन एवं अनुसरण करने से सद्गुणों की वृद्धि हो, बुराइयों का ह्रास हो, आत्मा की अन्तर्मुखी एवं ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्ति हो, वही ब्रह्मचर्य है। चौथे व्रत में स्वदारासन्तोष और पर-स्त्री त्याग व्रत होता है। वही क्रम चौथी प्रतिमा तक

अणुव्रत की व्याख्या और उसके भेद।

'अणु' का अर्थ यहां परमाणु नहीं बल्कि इसका अर्थ है "छोटा"। अणु यदि न हो तो महान् की कल्पना नहीं की जा सकती एवं महान् से ही अणु की कल्पना की जाती है। यदि किसी के एक ही पुत्र हो तो उसे ज्येष्ठ-कनिष्ठ नहीं कहा जा सकता है—

जैसे नौ मंजिली कोठी की अपेक्षा दो मंज़िली कोठी अणु है और नौ मजिली कोठी महान् है। इसी प्रकार सर्वविरति महान् है, क्योंकि जिन व्रतों को वह धारण करता है वह महान् ही धारण करता है। इसलिए उन व्रतों को महाव्रत कहा जाता है। सर्व विरति छट्ठे गुणस्थान से आरम्भ होती है और चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण हो जाती है। इसी कारण सर्व विरति नौ मंजिल का महाहर्म्य है।

श्रावक विरति दो मंजिली कोठी है जो कि चौथे गुणस्थान से आरम्भ होती है और पांचवे गुणस्थान में सम्पूर्ण हो जाती है। दूसरी पडिमा से लेकर ग्यारहवीं पडिमा तक पांचवां गुण-स्थान ही रहता है, अणुव्रत का अर्थ होता है "छोटा व्रत"। 'व्रत' का अर्थ होता है निवृत्तिभाव। जो व्रत अणु हो उसको अणुव्रत कहते हैं। चार कारणों से व्रत अणु और महान् हो सकता है। अणु के समझने से महान् स्वयं जाना जा सकता है, वे कारण निम्नलिखित हैं:—

१. द्रव्यतः अणुव्रत, २. क्षेत्रतः अणुव्रत,
३. कालतः अणुव्रत, ४. भावतः अणुव्रत

छठा सोपान

उपासक की छठी तिमा

जो श्रमणोपासक, पांचवीं प्रतिमा में पूर्ण अभ्यस्त हो गया है और साथ ही उस प्रतिमा का समय भी समाप्त हो गया, उस वक्त यदि उपासक के हृदय में उत्साह, श्रद्धा, संवेग अधिक हो, शरीर में शक्ति हो, परिस्थिति अनुकूल हो, तो वह आगे बढ़कर छठी प्रतिमा की आराधना कर सकता है। उसका स्वरूप और विधि विधान निम्नलिखित है।

दिवा वि राओ वि बंभयारी

छठी प्रतिमा में जब सर्वधर्म विषयक रुचि होती है। तब वह उपर्युक्त सभी व्रतों का सम्यक्तया पालन करता हुआ आगे चल कर पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

मन वचन काय की काम राग जनित प्रवृत्ति को अब्रह्म कहते हैं। जिस ओर जाने से सद्गुणों की वृद्धि न हो, केवल दोषों का ही पोषण हो, वह अब्रह्म कहलाता है, क्योंकि मैथुन प्रवृत्ति एक ऐसी चीज है कि उसमें पड़ते ही सम्पूर्ण दोषों का पोषण और सद्गुणों का शोषण (ह्रास) प्रारम्भ हो जाता है।

ऐसी दुष्प्रवृत्ति को बन्द कर देना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। जिसके पालन एवं अनुसरण करने से सद्गुणों की वृद्धि हो, बुराइयों का ह्रास हो, आत्मा की अन्तर्मुखी एवं ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्ति हो, वही ब्रह्मचर्य है। चौथे व्रत में स्वदारासन्तोष और पर-स्त्री त्याग व्रत होता है। वही क्रम चौथी प्रतिमा तक

रहता है। किन्तु जब सन्तोष की मात्रा प्रतिदिन बढ़ती जाती है, तब फिर पांचवीं प्रतिमा में उसी सन्तोष का मर्यादा क्षेत्र और बढ़ जाता है। छठी प्रतिमा में ब्रह्मचर्य का क्षेत्र सर्वांगीण बन जाता है।

साधक को पहले ही यह निश्चय कर लेना चाहिए कि मुझे ब्रह्मचर्य भगवान की आराधना करनी है। तत्पश्चात् उसे सावधानी रखनी चाहिए कि उसकी साधना में विघ्न डालने वाले बाहरी कारणों से बचा रहे और चित्त को सर्वदा किसी उदात्त व्यवसाय या शुभ कार्यों में ही लगाए रखे, जिससे विषय भोग का विचार ही नहीं आवे। "स्त्री निन्दा या स्त्री महिमा" दोनों में से किसी भी प्रकार के लेख पढ़ने की जरूरत ब्रह्मचर्य के साधक को नहीं है।

श्रमणोपासक भी अपनी मर्यादा में रहता हुआ जितेन्द्रिय बन सकता है। इन्द्रियजय, सर्व विरत तो करते ही हैं, किन्तु देशविरत भी कर सकते हैं। 'जय' शब्द का प्रयोग शत्रु के लिए दो तरह से किया जाता है एक शत्रु को वश में करने के लिए और दूसरा उसके सर्वनाश के लिए। किन्तु इनमें इन्द्रियों का नाश करना इन्द्रियजय नहीं, प्रत्युत अज्ञानता है। इन्द्रियों से विवेक पूर्वक काम लेना, इसी में बुद्धिमत्ता है। इन्द्रिय तथा मन के प्रति शत्रुता का भाव रखना गलत है। क्योंकि देह, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि ये सब उन्नति तथा विकास के लिए आत्मा के विशिष्ट साधन हैं। इनके बिना साधक आत्मा, अपाङ्ग की तरह अकिंचित्कर है।

विचारशील व्यक्ति का ध्येय न तो इन्द्रियों का नाश करने का ही होता है और न निष्कारण दमन का ही।

छठा सोपान

उपासक की छठी तिमा

जो श्रमणोपासक, पांचवीं प्रतिमा में पूर्ण अभ्यस्त हो गया है और साथ ही उस प्रतिमा का समय भी समाप्त हो गया, उस वक्त यदि उपासक के हृदय में उत्साह, श्रद्धा, संवेग अधिक हो, शरीर में शक्ति हो, परिस्थिति अनुकूल हो, तो वह आगे बढ़कर छठी प्रतिमा की आराधना कर सकता है। उसका स्वरूप और विधि विधान निम्नलिखित है।

दिवा वि राओ वि बंभयारी

छठी प्रतिमा में जब सर्वधर्म विषयक रुचि होती है। तब वह उपर्युक्त सभी व्रतों का सम्यक्तया पालन करता हुआ आगे चल कर पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

मन वचन काय की काम राग जनित प्रवृत्ति को अब्रह्म कहते हैं। जिस ओर जाने से सद्‌गुणों की वृद्धि न हो, केवल दोषों का ही पोषण हो, वह अब्रह्म कहलाता है, क्योंकि मैथुन प्रवृत्ति एक ऐसी चीज है कि उसमें पड़ते ही सम्पूर्ण दोषों का पोषण और सद्‌गुणों का शोषण (ह्रास) प्रारम्भ हो जाता है।

ऐसी दुष्प्रवृत्ति को बन्द कर देना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। जिसके पालन एवं अनुसरण करने से सद्‌गुणों की वृद्धि हो, बुराइयों का ह्रास हो, आत्मा की अन्तर्मुखी एवं ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्ति हो, वही ब्रह्मचर्य है। चौथे व्रत में स्वदारासन्तोष और पर-स्त्री त्याग व्रत होता है। वही क्रम चौथी प्रतिमा तक

रहता है। किन्तु जब सन्तोष की मात्रा प्रतिदिन बढ़ती जाती है, तब फिर पांचवीं प्रतिमा में उसी सन्तोष का मर्यादा क्षेत्र और बढ़ जाता है। छठी प्रतिमा में ब्रह्मचर्य का क्षेत्र सर्वांगीण बन जाता है।

साधक को पहले ही यह निश्चय कर लेना चाहिए कि मुझे ब्रह्मचर्य भगवान की आराधना करनी है। तत्पश्चात् उसे साव-धानी रखनी चाहिए कि उसकी साधना में विघ्न डालने वाले बाहरी कारणों से बचा रहे और चित्त को सर्वदा किसी उदात्त व्यवसाय या शुभ कार्यों में ही लगाए रखे, जिससे विषय भोग का विचार ही नहीं आवे। "स्त्री निन्दा या स्त्री महिमा" दोनों में से किसी भी प्रकार के लेख पढ़ने की जरूरत ब्रह्मचर्य के साधक को नहीं है।

श्रमणोपासक भी अपनी मर्यादा में रहता हुआ जितेन्द्रिय बन सकता है। इन्द्रियजय, सर्व विरत तो करते ही हैं, किन्तु देशविरत भी कर सकते हैं। 'जय' शब्द का प्रयोग शत्रु के लिए दो तरह से किया जाता है एक शत्रु को वश में करने के लिए और दूसरा उसके सर्वनाश के लिए। किन्तु इनमें इन्द्रियों का नाश करना इन्द्रियजय नहीं, प्रत्युत अज्ञानता है। इन्द्रियों से विवेक पूर्वक काम लेना, इसी में बुद्धिमत्ता है। इन्द्रिय तथा मन के प्रति शत्रुता का भाव रखना गलत है। क्योंकि देह, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि ये सब उन्नति तथा विकास के लिए आत्मा के विशिष्ट साधन हैं। इनके बिना साधक आत्मा, अपाङ्ग की तरह अकिंचित्कर है।

विचारशील व्यक्ति का ध्येय न तो इन्द्रियों का नाश करने का ही होता है और न निष्कारण दमन का ही।

वस्तुतः इन्द्रियों के अधीन न होना, वल्कि इन्द्रियों का नियामक वनना, यही इन्द्रियजय है। इन्द्रियों के किसी भी विषय का गुलाम न वनना, किसी पर राग द्वेष न करना इसी को इन्द्रियजय कहते हैं।

लुभावने इन्द्रियों के विषयों पर आसक्त न होना और अनिष्ट विषय पर घृणा तथा नफ़रत न करके, राग द्वेप दोनों से तटस्थ रहना, इसी को इन्द्रियजय कहते हैं।

ज्ञातासूत्र के ९वें अध्ययन में महाराजा जितशत्रु के प्रधान मन्त्री सुबुद्धिजी का ज्वलन्त उदाहरण है, जो कि सम्यक्त्व सहित वारह व्रतों के आराधक हुए हैं और वस्तु स्वरूप के अनुभवी एवं ज्ञाता थे। जिन्हें इन्द्रियों के विषय विचलित नहीं कर सके। जिस समय भोजनालय में रसीले सुरभित तथा स्वादिष्ट भोजन खाते हुए सभी उच्च पदाधिकारी मुक्त-कण्ठ से प्रणीत भोजन की प्रशंसा कर रहे थे, उस समय सुबुद्धिजी ने अनासक्ति भाव से आहार किया, इसी कारण उन्होंने प्रशंसा नहीं की। दूसरी घटना उनके जीवन में गन्दे नाले के समीप घटी। यहां असह्य दुर्गन्ध, आसपास के प्रदेश को भी दुर्गन्धित कर रही थी। उच्चतम पदाधिकारीसमेत महाराजा जितशत्रु, अकस्मात् उसी तरफ निकल गए। जिस गंध को मनुष्य स्वप्न में भी सूंघना नहीं चाहता है, उस गन्ध को रोकने के लिए सभी पदाधिकारियों ने उपवस्त्र से अपने मुंह को आच्छादित किया, किन्तु सुबुद्धि प्रधान जी, उसी मुस्तैदी चाल से चल रहे थे, जैसे कि पहले। उन्होंने अपना नाक व मुंह नहीं ढांका, क्योंकि उन्होंने वस्तु के स्वरूप को भली भांति जान रखा था। जिनधर्म उनके रोम रोम में

समाया हुआ था। इसी कारण अनुकूल तथा प्रतिकूल विषय, उनकी समता को नहीं हिला सके।

इस दृष्टि से सुबुद्धि प्रधानजी श्रावक वृत्ति में भी इन्द्रिय जयी हुए हैं।

इन्द्रियों की लोलुपता पर काबू पाने के लिए उनके विषयों का वैर भाव से या दोष भाव से चिन्तन करने में वक्त नहीं गंवाना चाहिए। इन्द्रिय विजय का सच्चा मार्ग तो यही है कि चित्त को शुभ तथा शुद्ध परिणामों में. स्वाध्याय ध्यान समाधि इत्यादि व्यवसाय में तल्लीन रखे, जिससे इन्द्रियों के विषय अपने आप निर्जीव बन जाएँ। इन्द्रियाँ पौष्टिक आहार तथा वैषयिक वातावरण में रहने से उत्तेजित होती हैं। अतः पथ्य तथा मिताहार के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। स्वादिष्ट वस्तुओं की लालसा छोड़ देनी चाहिए। ऐसी चीजें यदि अनायास ही मिल जाए तो स्वाद के वशीभूत होकर उन्हें अधिक न खाना चाहिए। जो भोजन आर्य लोगों में प्रचलित हो, जो सादा एवं आरोग्य प्रद हो, जो निर्दोष हो, जो समाज की दृष्टि से जीवन निर्वाह के लिए हो, वही भोजन करना चाहिए। रसनेन्द्रिय को तृप्त करने का लक्ष्य नहीं रखना चाहिए।

जो व्यक्ति इन्द्रियदण्डन करना चाहता है, वह प्रत्येक इन्द्रिय को दण्डित नहीं कर सकता। अतः उसका परिणाम यह होता है कि एक इन्द्रिय पर अधिक कठोरता करके इतर इन्द्रियों को अधिक लाड़ लड़ाता है। ऐसा करना अज्ञानियों की चेष्टा है, ज्ञानियों की नहीं। जो इन्द्रियों के विषयों का गुलाम नहीं, वही विशुद्ध धर्म की आराधना कर सकता है, अन्य नहीं।

प्रश्न— 'समवायांग' सूत्र में छठी प्रतिमा में स्नान व रात्रि भोजन का त्याग कहा है और 'दशाश्रुतस्कन्ध' में उन्हीं का पांचवीं प्रतिमा में विधान किया है, तो दोनों में इतना विरोध क्यों ?

उत्तर— पांचवीं प्रतिमा में सर्व स्नान का त्याग है, देश स्नान का नहीं। अथवा स्त्रीप्रसंग करने पर ही स्नान करना, अन्यथा नहीं, किन्तु उसमें देशस्नान का त्याग नहीं। समवायांग सूत्र में जो लिखा है उससे देशस्नान का भी निषेध हो जाता है। क्योंकि जहां तक पूर्णतया ब्रह्मचर्य नहीं धारण किया जाता, वहां तक देशस्नान का त्याग आगमाभिमत नहीं है। ब्रह्मचारी बनने के पश्चात् शृंगार के लक्ष्य से स्नान करने का प्रश्न ही खतम हो जाता है। अध्यात्मप्रिय व्यक्ति को शरीर शुद्धि का लक्ष्य नहीं होता, उसे तो आत्म शुद्धि का ही विशेष ध्यान रहता है। जैनदर्शन स्नान करना धर्म नहीं मानता। स्नान शरीर शुद्धि का एक मार्ग है। ब्रह्मचारी तो सर्वत्र ही शुद्ध होता है "ब्रह्मचारी सदा शुचिः" हां मल-लेप को दूर करना निषिद्ध नहीं है। शृंगार दृष्टि से छठी प्रतिमा से लेकर आगे सभी प्रतिमाओं में स्नान करने का निषेध है।

पांचवीं प्रतिमा में रात्रि भोजन का त्याग अनेक प्रकार का होता है। जैसे कि—दुविहार, तिविहार, चौविहार का त्याग अथवा आगार सहित रात्रिभोजन का त्याग। किन्तु छठी प्रतिमा में रात्रिभोजन का सर्वथा त्याग होता है। असाता में भी आगार नहीं होता। यही समवायांग सूत्र का संकेत है। छठी प्रतिमा संपन्न व्यक्ति को जहां आत्म कल्याण का पथ अपनाना होता है, वहां जिनशासनोन्नति, सुलभबोधियों को धर्मो-

पदेश, शिक्षा, वात्सल्य, स्थिरीकरण, उपबृंहणा, संघवैयावृत्य, श्रुतसेवा आदि के द्वारा भी अपनी जवाबदारी को पूर्णतया निभाने का प्रयत्न भी चालू रखता है। अतः अपनी मर्यादा में रहता हुआ उपर्युक्त कार्य भार, जितना पूरा कर सके, अवश्य करना चाहिए। क्योंकि ये भी निर्जरा के ही कारण हैं।

छठी प्रतिमाधारी श्रावक सचित्त आहार का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता अर्थात् औषधादि सेवन के समय या अन्य किसी कारण से वह सचित्त आहार भी कर लेता है। इस प्रतिमा की अवधि कम से कम एक दो या तीन दिन है और अधिक से अधिक छह मास है। यदि आगे बढ़ने की शक्ति न हो, तो दूसरी बार इसी को धारण किया जा सकता है।

यह है छठी प्रतिमा का स्वरूप।

सातवां सोपान

उपासक की सातवीं प्रतिमा

मनुष्य ज्यों-ज्यों आध्यात्मिक क्षेत्र में समता, शांति, क्षमा. धृति, सहिष्णुता, संवेग, श्रद्धा संतोष, पराविद्या, और उत्साह आदि सद्‌गुणों को बढ़ाता है, त्यों-त्यों वह सर्वतोमुखी विकास एवं प्रगति करता है और उस पर उत्तरदायित्व भी बढ़ता ही जाता है।

श्रेष्ठ साधक ज्यों-ज्यों शुद्ध साधन एवं अनेक अनेक नियमोपनियम से अपने आप को अधिक से अधिकतर बांधता जाता है, त्यों-त्यों वह कर्मों से हल्का, बन्धन से मुक्त होता जाता है। इस क्रम से दानवी सम्पत्ति से वह लाखों करोड़ों योजन दूर हो जाता है, और दैवी संपत्ति से भरपूर तथा अलंकृत हो जाता है।

उसका उद्देश्य ज्ञान विवेक और त्याग से विषय कषाय आदि मानसिक विकारों को शमन या क्षय करने का ही होता है। जिसका लक्ष्य जितना महान् होता है, लक्ष्यबिन्दु पर पहुंचने के लिए उतने ही उपयोगी साधनों को उपयोग में लाना अनिवार्य हो जाता है। आगमों में श्रावकों के लिए जो विकास का क्रम पाया जाता है, वह सर्व साधारण के लिए नितान्त उपयोगी है।

सातवीं प्रतिमा में विशेषता

"सचित्त परिण्णाए"—

सभी प्रकार के सचित्त आहार का सर्वथा त्याग करना

अर्थात् विश्व में यावन्मात्र सचित्त पदार्थ हैं। उन वस्तुओं को "ज्ञ" परिज्ञा से जान कर, प्रत्याख्यान परिज्ञा से आहार का त्याग करना ही इस पडिमा का उद्देश्य है।

पहली प्रतिमा से लेकर छठी प्रतिमा तक जितने विधि विधान बताए हैं, उन सब का यथोक्त निरतिचार पालन करते हुए किसी भी विशेष कारण से सचित्त वस्तु का आहार न करे। सचित्त आहार का त्याग, छठी प्रतिमा तक आंशिक रूपेण होता है और सर्वथा त्याग सातवीं प्रतिमा से आरम्भ होकर ११वीं प्रतिमा तक रहता है।

सातवें व्रत में भोजन सम्बन्धी जो पांच अतिचार बतलाए हैं उन सब अतिचारों का पूर्णतया बहिष्कार सातवीं प्रतिमा में ही हो सकता है। अन्य प्रतिमाओं में अर्थात् दूसरी प्रतिमा से लेकर छठी प्रतिमा तक जिस सचित्त वस्तु के आहार का त्याग है उसी को निरतिचार पालन किया जा सकता है, किन्तु इस प्रतिमा में श्रावक सर्वथा निरतिचार ही पालन करता है।

सचित्त अचित्त आहार का निर्णय

संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सब छह काय के बद्धेलक और मुक्केलक का ही आहार करते हैं। बद्धेलक को सचित्त कहते हैं और मुक्केलक को अचित्त। प्रतिमा प्रतिपन्न श्रमणोपासक अचित्त तीन काय का ही आहार कर सकता है, जैसे कि पृथ्वीकाय अपकाय और वनस्पति काय। पृथ्वीकाय में सचित्त नमक, खाजनी, शिंगरफ, आदि का आहार नहीं कर सकता। एवं अपकाय में जल, बर्फ, ओला आदि सचित्त अप का आहार नहीं कर सकता। तथा सचित्त वनस्पति में पत्र, फूल, फल, बीज, कंद, मूल,

छाल, खंध जड़ इत्यादि वस्तुओं का आहार नहीं कर सकता। सचित्त तेउकाय का आहार मनुष्य कर ही नहीं सकता तथा सचित्त वायुकाय का आहार टल नहीं सकता। उसका आहार तो सहज रूप में आवश्यकीय है। त्रस काय चाहे सचित्त हो या अचित्त, दोनों ही प्रकार का आहार श्रमणोपासक के लिए अभक्ष्य होने से सर्वथा निषिद्ध है। जो वस्तु अचित्त हो और भक्ष्य हो, उस का आहार करना जीवन निर्वाह के लिए निषिद्ध नहीं है। पोषधोपवास में, रात्रि में, और संथारे में अचित्त आहार भी त्याग होता है।

जो अचित्त वस्तु सचित्त प्रतिवद्ध हो, उन अचित पदार्थों का आहार करना भी नितान्त निषिद्ध है। जैसे कि गुठली समेत छुहारा; पिंडखजूर, खुर्मानी, मुनक्का, वृक्ष के साथ लगा हुआ गूंद, इत्यादि वस्तु नहीं खानी चाहिए। सचित्त अपकाय पर रखा हुआ अचित्त खाद्य एवंपेय पदार्थ न खाना चाहिए और न पीना।

हुक्का, वीड़ी, सिग्रेट, चुरट आदि के द्वारा धूम्रपान करना सचित्त प्रतिवब्द आहार है।

इस प्रतिमा का धारक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। अचित्त आहार करता है, किंतु वह आरंभ का त्याग नहीं कर सकता, स्वयं भोजन वनाना भी उसके लिए निपिध्द नहीं है। इस प्रतिमा की उत्कृष्ट काल मर्यादा सात मास है।

यह है सातवीं प्रतिमा का स्वरूप।

आठवाँ सोपान

उपासक की आठवीं प्रतिमा

गृहस्थ साधक, यदि कोई क्रमशः आत्मोन्नति कर सकता है, तो वह प्रतिमाओं के द्वारा ही कर सकता है।

कोई भी कार्य, क्रम से ही सम्पन्न हो सकता है; उत्क्रम से नहीं। जैसे आटा, घृत और चासनी तीन चीजों के जुज्ज से हलुवा बनता है। यदि कोई पकाने से पूर्व ही तीनों का जुज्ज कर दे, तो हलवा नहीं बन सकता। यदि पकाते समय उत्क्रम से जुज्ज कर दे तो भी हलवा नहीं बन सकता, हां यदि सद् उपाय को क्रमशः क्रियात्मक पद्धति से जुज्ज किया जाय और उसमें कभी भी भूल न होने पाए, तो अवश्य ही हलवा बनकर तैयार हो जाता है। इसी प्रकार यदि क्रमशः प्रतिमाओं की अराधना की जाए तो वह गृहस्थ अवश्य ही आराधक हो सकता है। इसी को क्रमिक विकास भी कहते हैं।

साधक के लिए क्रमिक विकास अत्यन्त उपकारक होता है। इसका अवलंबन लेकर सर्वसाधारण व्यक्ति भी प्रगति कर सकता है। जिसने ७वीं प्रतिमा की सम्यक्तया आराधना करली है, उसके लिए ८वीं प्रतिमा की आराधना करनी बहुत ही आसान है।

आरंभपरिण्णाए—

आठवीं प्रतिमा में सर्व धर्म विषयक रुचि बनी रहती है। इसका आराधक उपर्युक्त सभी नियमों का पालन करता है। वह सचित्त आहार का एवं आरंभ का त्याग कर देता है।

सचित्त आहार त्यागने पर ही आरंभ का त्याग करना सर्वथा उचित है। 'आरंभ' शब्द जैन परम्परा का पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ होता है हिंसात्मक क्रिया। वैसे तो श्रमणोपासक अहिंसक ही होता है, वह किसी भी त्रस प्राणी की हिंसा संकल्प से भी नहीं करता, किन्तु संकल्पी हिंसा के अतिरिक्त अन्य प्रकार की हिंसा का त्याग अणुव्रतों में नहीं होता।

कृषि, वाणिज्य, उद्योग धन्धा व अन्य गृह सम्बन्धी कार्यों में छकाय की हिंसा होती रहती हैं, उसकी निवृत्ति इस प्रतिमा में यत् किंचित् हो जाती है।

संरंभ समारंभ का त्याग इस प्रतिमा में गृहस्थ के लिए दुःशक्य है। आरंभ का त्याग आठवीं प्रतिमाधारी के लिए सुशक्य है। पूर्व की प्रतिमाओं का आराधक, आरंभ का त्याग दीर्घकाल के लिए कर सकता है। आरंभ शब्द का अर्थ समझने से 'संरंभ' 'समारंभ' को समझना अनिवार्य हो जाता है। संरंभ का कार्य समारंभ है समारंभ का कार्य आरंभ है। इस प्रकार इनमें कारण कार्य भाव पाया जाता है। संरंभ की चरम सीमा तक जो संक्लिष्ट परिणाम पहुंचे हुए होते हैं, वहीं से समारंभ प्रारम्भ हो जाता। संक्लिष्टतर परिणामों की तीव्र मात्रा ही आरम्भ कहलाता है। संरंभ की शुरुआत नहीं है और

आरम्भ की इति नहीं है। समारंभ का अथ भी है और इति भी। संरंभ समारंभ और आरम्भ तीनों के तीन तीन भेद बनते हैं; जैसे कि—

मानसिक संरंभ, वाचिक संरंभ, कायिक संरंभ।

मानसिक समारंभ वाचिक समारंभ कायिक समारंभ।

मानसिक आरम्भ, वाचिक आरम्भ, कायिक आरम्भ।

इन की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है।

१. किसी प्राणी को मन से हैरान परेशान करने का संकल्प करना, परितापना तथा वध करने का संकल्प करना, मानसिक संरंभ है।

२. वाणी के द्वारा द्वेष वश अनिष्ट शब्दों का प्रयोग करके दूसरों को दुखित करना अल्पकाल के लिए किंकर्तव्यविमूढ़ बनाना वाचिक संरंभ है।

३. किसी प्राणी को द्वेष वश या कौतूहल वश, शिक्षा देने के लिए या रक्षा के भाव से हल्के हाथ से पीटना, ऑपरेशन करना, या अन्य किसी चीज से साधारण सा कष्ट देना कायिक संरंभ है।

१. हिंसा के उद्देश्य से मन द्वारा ही शस्त्र अस्त्र आदि साधनों को जुटाना मानसिक समारंभ है।

२. जिससे प्राणी अतिदुःखित हो जाय ऐसी अनिष्टतर वाणी बोलना वाचिक समारंभ कहलाता है।

३. किसी प्राणी को या छःकाय में से किसी काय को, अतीव पीड़ित करना, अतीव परितापना देना, कायिक समारंभ है।

१. मन से ही किसी प्राणी का नितान्त हनन करना मानसिक आरम्भ है।

२. जिससे प्राण तीव्रतर दुःख माने या मरण तुल्य दुःख माने, ऐसी अनिष्ठतर वाणी बोलना वाचिक आरम्भ है।

३. किसी शस्त्र अस्त्र आदि के द्वारा प्राणी, भूत जीव सत्त्व को जीवन रहित कर देना, प्राण हरण करना कायिक आरम्भ है।

इस आठवीं प्रतिमा में मानसिक आरम्भ, वाचिक आरम्भ और कायिक आरम्भ करने का परित्याग होता है। शेष ६ बोलों का यथा शक्य विवेक रक्खे। गृहस्थ दशा में संरंभ समारंभ का त्याग नहीं हो सकता। आरम्भ का ही १ करण तीन योग से प्रत्याख्यान किया जाता है।

पहले अणुव्रत में संकल्पी हिंसा का त्याग होता है २ करण ३ योग से, किन्तु पाँच स्थावरों की हिंसा का सर्वथा त्याग न पहले में ही होता है और न सातवें व्रत में ही। आरम्भ त्यागी श्रावक न अपने किसी कार्य के लिए आरम्भ करता है और न अन्य किसी के लिए पांच स्थावरों की स्वयं हिंसा करता है। हां अन्य को कहकर आरम्भ करा सकता है—स्वयं नहीं। सचित्त-आहार त्याग होने के पश्चात् ही आरम्भ का त्याग किया जा सकता है, यानी अपनी ओर से छहकाय की विराधना नहीं करनी, यही इस प्रतिमा का फलितार्थ है।

शंका— हिंसा की भावना करना अतिक्रम है, हिंसा की सामग्री जुटाना व्यतिक्रम है। साधनों का येनकेन रूपेण प्रयोग करके जीव को हताहत करना अतिचार है और हिंसात्मक

तीव्र भाव को कार्य रूप में परिणत करके प्राणवियुक्त करना अनाचार है। जो अर्थ संरंभ, समारंभ और आरम्भ का है, वही अर्थ अतिक्रम आदि का है, फिर दोनों में अन्तर क्या है ?

समाधान

संरंभ, समारंभ और आरम्भ इन तीनों से अप्रत्याख्यानी जीव भी तत्सदृश क्रिया करने से हिंसा आदि दोष का भागी बनता रहता है। ये तीनों सिर्फ हिंसा से ही सम्बन्धित हैं। ये तीनों असंयतो अविरति अप्रत्याख्यानी के भी चालू रहती है, किन्तु अतिक्रम आदि ४ बोल सम्यक्त्वी देशविरति और सर्वविरति इनकी अपेक्षा से ही दोष पाए जाते हैं।

व्रत भंग के चार दर्जे हैं। दोष लगने के मुख्यतया १० कारण हैं उनमें से यदि किसी ने दोष सेवन किया है तो उस किये हुए दोष को जानने के लिए अतिक्रम आदि थर्मामीटर (दोषमापक यन्त्र) है। इस थर्मामीटर से लगे हुए दोष की परख की जाती है। दोष परखने के पश्चात ही प्रायश्चित्त का विधान लागू किया जा सकता है। उपर्युक्त ४ बोल न केवल हिंसा का ही थर्मामीटर है, बल्कि सभी प्रकार के दोषों को जानने का थर्मामीटर है कोई भी व्रत अतिक्रम आदि के द्वारा यह जाना जाता है कि व्रत में कहां और कैसे एवं कितना दोष लगा है, जो दोष अतिचार की सीमा तक पहुंच गया है वह प्रायश्चित्त का भागी है। अतिक्रम में कितना प्रायश्चित्त, व्यतिक्रम में कितना तथा अतिचार में कितना प्रायश्चित्त, यह सब कुछ जानने में सुविधा रहती है। मिथ्यादृष्टि की क्रिया में अतिक्रम आदि विधान लागू नहीं

किए जाते हैं। अनाचार में कोई प्रायश्चित्त लागू नहीं होता, क्योंकि अनाचार व्रत के सर्वथा भंग हो जाने को कहते हैं।

संरंभ का सम्बन्ध अतिक्रम तक है, समारम्भ का व्यतिक्रम व अतिचार तक है और आरम्भ करनाअनाचार है।

आरम्भ परित्यागी स्वयं रसोई आदि नहीं बना सकता, दूसरे से आरम्भ कराने का उसका त्याग नहीं है।

इस प्रतिमा की काल मर्यादा जघन्य १ दिन, २ दिन, या ३ दिन है, उत्कृष्ट ८ मास है। यदि आगे बढ़ने का विचार न हो, तो पुनः इसी प्रतिमा को धारण किया जा सकता है।

यह है आठवीं प्रतिमा का स्वरूप।

नौवां सोपान

उपासक की ९वीं प्रतिमा

पहली प्रतिमा से लेकर आठवीं प्रतिमा तक जितने नियमोपनियम हैं, उन सब का सम्यक्तया पालन करते हुए जब साधक पूर्णतया अभ्यस्त हो जाता है, तब वह ९वीं प्रतिमा में प्रवेश कर सकता है। उसका मूल सूत्र निम्नोक्त है—

'पेस परिएणाए'—

जिस आरम्भ का परित्याग ८वीं प्रतिमा में १ करण ३ योग से किया है, उसी आरम्भ का त्याग ९वीं प्रतिमा में २ करण ३ योग से होता है। जलयान, नभोयान, स्थलयान तथा वाहन आदि का उपयोग न स्वयं करना, और न दूसरे को उपयोग करने के लिए कहना, क्योंकि ऐसा करने से आरम्भ होता है। आरम्भ दोष से बचने के लिए वह बिना यत्ना के रात्रि को भी विहरण नहीं करता।

मकान, घर, दुकान सम्बन्धी, कृषि, वाणिज्य सम्बन्धी, छेदन भेदन सम्बन्धी, पचन पाचन सम्बन्धी, शादी गमी सम्बन्धी, लौकिक पर्व सम्बन्धी और भवन निर्माण, मरम्मत सम्बन्धी, जितनी भी क्रियाएँ हैं, उन सब का अन्तर्भाव आरम्भ में ही हो जाता है। ऐसा आरम्भ न स्वयं करना और न दूसरे से कराना, मन वचन एवं काय से। अपने लिए कोई विशेष भोजन पानी न बनवाना, यदि कोई उसके लिए स्वयं भोजन पानी बनाकर दे, या अन्य किसी को कहकर तैयार

करा दे, तो उसे सेवन कर सकता है। क्योंकि उसके अनुमोदना का त्याग नहीं है।

इसमें रहस्य की बात यह है कि जो आश्रव से स्वयं को बचाता है, जिसे स्वयं नहीं करता, उसमें दूसरे को धकेलना भी दोष है। साधक जहां दोषों से स्वयं को बचाता है, वहाँ दोषों से दूसरे को बचाना भी उसका ध्येय बन जाता है।

इस प्रतिमा के धारण करने से श्रावक बाह्य खटपट से बहुत कुछ बच जाता है। चित्त में समाधि रहती है। अशुभोपयोग में कालक्षेप नहीं होता सर्वदा उपयोग धर्म-ध्यान में ही लगा रहता है। संवर तथा संयम का सीमा क्षेत्र अधिक बढ़ जाता है। असंयम की मात्रा सकुचित हो जाती है।

जैसा भोजन बना है, वैसा ही कर लेना। अपनी इच्छानुसार कोई भी वस्तु न बनवाना, यह रसनेन्द्रिय विजय और अस्वादव्रत कहलाता है। क्योंकि मन पसन्द वस्तु स्वयं भी बनाई जा सकती है और अन्य के द्वारा भी। परन्तु इन दोनों का त्याग होने से स्वादविजय के कारण अन्य इन्द्रियें स्वयमेव जीती जा सकती हैं। प्रेष्य परित्याग का अर्थ यह भी होता है-नौकर चाकरों पर सांसारिक कार्यों के लिए हुकूमत करना भी बन्द हो जाता है। इससे परिग्रह बुद्धि भी घट जाती है। न परिघेतव्वा, दोपद चौपद आदि जो प्राणी हैं, उनके ऊपर से ममत्व बहुत कुछ घट जाता है। उन पर आज्ञा चलाना बन्द हो जाता है। आरम्भ वर्द्धक परिग्रह का त्याग होने से इस प्रतिमा को परिग्रह त्याग प्रतिमा भी कहते हैं। अनुमति देने का उसे त्याग नहीं है। इस प्रतिमा का उत्कृष्ट कालमान ९ मास है। जघन्य एक दो या तीन दिन है।

यह है नौवीं प्रतिमा का स्वरूप।

दसवां सोपान

उपासक की दसवीं प्रतिमा

नौवीं प्रतिमा में श्रमणोपासक न तो स्वयं आरम्भ करता है, और न दूसरे से करवाता है, परन्तु उसके निमित्त तैयार किए हुए भोजन पान को ग्रहण कर सकता है।

यदि कोई व्यक्ति किसी कार्य वश घरेलु व्यापारिक तथा राजनैतिक के विषय में सलाह-विचार विमर्श करना चाहता है या अनुमति लेना चाहता है, तो निरवद्य सत्य बोलकर उत्तर दे सकता है, वह भी तब, जब कि अनुमति देने से किसी भी तरह से न्याय नीति में तथा प्रतिमा में बाधक एवं घातक न हो।

जहां दूसरों से आरम्भ कराया जाता है वहां अधिकार पूर्वक स्वेच्छा से प्रेरणा की जाती है, जब कि अनुमति पूछने पर ही दी जाती है—स्वेच्छा से नहीं, यही दोनों में अंतर है। इस प्रतिमा में जो विशेषता है अब वही बतलाना है।

"उद्दिट्ठभत्तपरिण्णाए आवि भवइ"

दसवीं प्रतिमा में श्रावक उपर्युक्त प्रतिमाओं में सब नियमों का पालन करते हुए, सभी प्रतिमाओं का निरतिचार पालन करते हुए जब दसवीं प्रतिमा में उपस्थित होता है तब वह 'उद्दिष्टभक्त' अर्थात् अपने निमित्त बनाए हुए भोजन को कदापि नहीं ग्रहण करता, क्योंकि उसे ग्रहण करने से आरंभ

की अनुमोदना होती है। इस प्रतिमा के आरम्भ का त्याग, तीन करण तीन योग से होता है। 'अपने निमित्त किसी भी वस्तु को न ग्रहण करना, जो कि आरम्भ जन्य हो। यह है उसकी प्रतिज्ञा। हां जो कुछ घर में सब के लिए बनता है, जिसमें उसका कोई भाग नहीं है, उसमें से वह ग्रहण कर सकता है। केश, दाढ़ी, मूंछ के रखने या न रखने के लिए आगमकारों का अभिमत है, वह क्षुर (उस्तरे) से मुण्डन कराए, परन्तु शिखा (चोटी) अवश्य रखे, क्योंकि चोटी गृहस्थ का चिन्ह है। नौवीं प्रतिमा तक केशादि रखने या न रखने के लिए कोई विधि निषेध नहीं, 'किन्तु दसवीं में' उस्तरे से मुण्डवाने का और चोटी रखने का विशेष विधान है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि वैदिक परम्परा में विशिष्ट त्यागी के लिए केश आदि (जटाएं) रखने का विशेष विधान है। उस परम्परा में जितने भी वनाप्रस्थ ऋषि हुए हैं सभी ने प्रायः केशादि रखे, परन्तु जैन परम्परा में केश या जटाएं रखने का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। केश का रखना १०वीं प्रतिमा प्रतिपन्न श्रावक के लिए सर्वथा निषिद्ध है।

मुण्डन कराते समय चोटी को ही न मुण्डित करे, इस कारण चोटी रखने का विधान किया है चोटी से गृहस्थ की पहचान होती है। चोटी रखने की पद्धति, इस्लाम धर्म प्रचलित होने पर ही नहीं, बल्कि चिरंतन है। १६ संस्कारों में एक संस्कार है– शिखा धारण करना। इससे यह सिद्ध होता है कि चोटी रखना बहुत पुरानी पद्धति है।

प्रस्तुत प्रतिमा में तीसरी विशेषता है कि यदि कोई सम्बन्धिजन, १०वीं प्रतिमाधारी श्रावक के पास आकर पूछे

कि अमुक स्थान पर, बैंक में, या डाकखाने में, सूद पर दिया हुआ धन आदि पदार्थ क्या निक्षिप्त है ? तो क्या उसके विषय में आप कुछ जानते हैं ?' अथवा वैज्ञानिक प्रयोग जो-कि आरम्भ एवं परिग्रह पोषक एवं अभिवर्द्धक हो उसे आप क्या जानते हैं ? यदि वह जानता हो तो कह देना चाहिए कि 'मैं जानता हूँ।' यदि नहीं जानता हो, तो कह देना चाहिए कि 'मैं नहीं' जानता। पूछने वाले को हां या ना में ही उत्तर देना चाहिए। इससे अधिक कहने के लिए भगवान् ने आज्ञा नहीं दी।

क्योंकि जिस पद्धति के पीछे सत्यं शिवं सुन्दरं का महत्त्व पूर्ण परिणाम न हो उसे अपनाने के लिए जैन संस्कृति जोर नहीं देती। हां जिस स्तर में जो पद्धति हानि के अतिरिक्त लाभप्रद न हो, उसे बदलने में अधिक जोर देती है।

नौवीं प्रतिमा तक केश आदि रखने या न रखने में कोई विशेष हानि लाभ नहीं देखा, परन्तु दसवीं प्रतिमा में साधक के लिए लाभदायक न होकर हानिप्रद सिद्ध हुआ। इसी कारण जैन आगमकारों ने १०वीं प्रतिमा में दाढ़ी, मूच्छ, केश रखने के वजाय उस्तरे से मुण्डन करने के लिए श्रावक को कहा है। क्योंकि केश या जटाओं में जूं लीक पैदा हो जाने की संभावना रहती है या क्षुद्रक जन्तु कीड़ी आदि, उड़ने वाले छोटे मच्छर आदि, फंस जाते हैं, जिन का स्वयमेव निकलना कठिनतर हो जाता है। केश मसलने से उनकी विराधना हो जाने की संभावना रहती है। क्योंकि केश आदि धोने से, संवारने से, एवं व्यवस्थित बांधने से ही ठीक रह सकते हैं, अन्यथा सिर्फ जंजाल ही है।

न्हाना, धोना, कंघी पट्टी करना, सिगार विभूषा करना आदि क्रियाओं में अनेक प्रकार के आरम्भ आदि अनर्थ हो जाने की संभावना रहती है। जिस भाषा के बोलने से स्वीकृत की हुई प्रतिमाएं अतिचारों से दूषित हो जाय, ऐसी भाषा नहीं बोलनी चाहिए। यदि जानते हुए इन्कार कर जाय तो झूठ का दोष लगता है, अपनी प्रामाणिकता नष्ट होती है, धर्म की अवहेलना होती है और प्रतिमाएं भंग होती हैं। यदि जानते हुए को विवरण सहित बता दे, तो पूछने वाले आरम्भ परिग्रह आदि में प्रवृत्त हो जाते हैं, इससे भी व्रत, अतिचारों से दूषित हो जाते हैं। असत्य भी न बोले और सावद्य सत्य भी न बोले, वस्तु स्थिति जैसी भी है उस के विषय में 'हां' या 'ना' के अतिरिक्त न बोलना—यह है उसकी भाषा समिति।

प्रस्तुत प्रतिमा की आराधना जघन्य एक दिन, दो दिन, एवं तीन दिन उत्कृष्ट १० मास परिपूर्ण करना, यही इस प्रतिमा का कालमान है।

दिगंबर परम्परा में दसवीं प्रतिमाधारी को क्षुल्लक कहते हैं।

यह है दसवीं प्रतिमा का स्वरूप।

ग्यारहवां सोपान

श्रमणभूत प्रतिमा

'समणभूए आवि भवइ'—

श्रमणभूत का अर्थ होता है— श्रमण कल्प अर्थात् श्रमण सदृश। जो श्रमण तो नहीं परन्तु श्रमण के सदृश है। जैसे कि सुधर्मा स्वामी के लिए कहा जाता है— 'जिन नहीं पर जिन सरीखे थे।' इसी प्रकार जो श्रमण न होते हुए भी क्रिया श्रमण जैसी करता हो उसे श्रमणभूत कहते हैं।

वह भी संयम की प्रत्येक क्रिया में यतना करता है। साधु की तरह निर्दोष भिक्षाचरी, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, समाधि आदि शुभ क्रियाओं की आराधना करता है। वह उपर्युक्त सभी नियमों का कठोरता से पालन करता है, जिनका उल्लेख पहली प्रतिमा से लेकर दसवीं तक किया है। सभी पडिमाओं का सदैव सावधान होकर वह निरतिचार पालन करता है। वह उद्दिष्ट भक्त का भी सर्वथा त्यागी होता है। अर्थात् जो भोजन उसके निमित्त बनाया गया है उसे भी न ग्रहण करना। न स्वयं अपने लिए भोजन बनाना न दूसरों से बनवाना और उसके उद्देश्य से अगर किसी ने बनाया है तो उस भोजन को ग्रहण नहीं करना यह है इस प्रतिमा का कल्प।

श्रमणभूत का वेष और दैनिक आचार

वेष भी जीवन में एक बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। इसके बिना राजनैतिक तथा धर्मनैतिक का व्यवहार चलाना यदि अशक्य नहीं, तो दुःशक्य अवश्य है—ऐसा मानने में किसी को भी इन्कार नहीं होगा।

वेष विकारों एवं दोषों का जहां जनक तथा पोषक है, वहां उनका नाशक भी है। वेष गुण अवगुण दोनों के पनपने में निमित्त है।

वेष अन्तःकरण निहित भावनाओं और संस्कारों का प्रतिनिधि है। संयम रक्षा में पूरा-पूरा सहयोग देता है। साधक कैसे यम नियम एवं उपनियमों का पालन करता है? उसका परिचय देने में समर्थ है। वेष जीवन यात्रा को चलाने में एकमात्र साधन है। वेष ही इतर क्रिया काण्ड करने वालों का व्यावर्तक है। हां जैन दर्शन वेष को ही धर्म का सर्वस्व नहीं मानता, बल्कि उसे धर्म का बाह्य साधन मानता है। अन्तरंग साधन को सुचारु रूपेण चलाने के लिए जो सहायक हो, उसी को बाह्य साधन कहते हैं। उन बाह्य साधनों में वेष भी एक साधन है। इसी कारण ११वां पडिमाधारी का वेष श्रमण निर्ग्रन्थों जैसा ही होता है। मुख पर मुंहपत्ती बान्धना, कटि में चोलपट्टक बांधना, गात्रिका बांधना, चादर ओढ़ना, आवश्यकतानुसार अल्पाल्पवस्त्र रखना, कांख में बिना निशीथिये के नंगी डण्डी वाला रजोहरण धारण करना, भिक्षा के लिये काष्ठ के पात्र रखना, नंगे पैर और नंगे सिर रहना, लेफ, रजाई, गद्दे, पलंग, कुर्सी आदि पर न बैठना और न शयन करना। वर्षा में, अंधड़ में, धुन्ध में आहार आदि की गवेषणा

न करना, आरम्भ-जनक कोई भी क्रिया न करना, प्रतिमा काल पर्यन्त अणुव्रतादि की सम्यक् आराधना, तीन करण और तीन योग से करना। संवर तत्व के ५७ बोलों की तथा निर्जरा के १२ भेदों की आराधना शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक करना — यही उसका बाह्य और आभ्यंतरिक वेष है।

जिस क्रिया से अपनी शक्ति नष्ट न होने पाए वही क्रिया प्रवचन प्रभाविका तथा स्व पर कल्याण कारिणी होती है।

मुखवस्त्रिका बान्धने का उद्देश्य और उससे लाभ

मुख पर बांधने से ही मुखवस्त्रिका कहलाती है। जैन परम्परा में त्यागियों की सब से बड़ी पहचान और ऋषिध्वज मुखवस्त्रिका ही है। यह जीव रक्षा का प्रतीक है। सर्वोत्तम और विश्वस्त वेष है। जैसे—सिपाही या थानेदार की वर्दी में 'पेटी' अपना स्थान सर्वोपरी रखती है। एवं मुख पत्ति भी निर्ग्रन्थ के इतर वेष की अपेक्षा अपना स्थान सर्वोपरि रखती है। सिपाही आदि तो नियुक्ति पर खड़े हुए ही वर्दी पहने रहते हैं, अवकाश के समय में नहीं। परन्तु श्रमण निर्ग्रन्थ तो आयुपर्यन्त सदैव नियुक्ति पर उपस्थित रहते हैं। वे क्षण-मात्र भी साधुता से अवकाश नहीं प्राप्त करते, अतः वे तो विशेष कारण के बिना सदैव मुंहपत्ति मुंह पर बांधे ही रखते हैं। परन्तु श्रमणकल्प श्रमणोपासक की काल मर्यादा ही उसकी नियुक्ति है, वह प्रतिमा की है। जब तक वह अपनी नियुक्ति पर उपस्थित रहता है, तब तक वह भी श्रमण की तरह मुखपत्ति मुख पर बांधे रखता है। मुखपत्ति का उद्देश्य सदैव बांधने से ही पूरा हो सकता है कभी-कभी बांधने से या हाथ में रखने से उद्देश्य पूर्ति नहीं हो सकती।

मुखपत्ति, सन्तोष-सब्र की निशानी है। वाक् संयम और रसनेन्द्रिय विजय की ध्वजा है। जिस प्रकार अत्युत्तम वस्तुओं से भरे हुए भाजन का मुंह ढांका जाता है और रिक्त भाजन का मुंह खुला ही रहता है, उसी प्रकार जो मूलगुणी एवं उत्तरगुणी हैं वे ही प्रायः मुँह ढांकते हैं। गुणविहीन मुंह ढांकने से झिझकते हैं। मुखपत्ति बांधने से शृंगार-प्रिय विजातियों में विशेष आकर्षण नहीं रहता। केवल धार्मिकों के हृदय में विशिष्ट आकर्षण बन जाता है।

बात करते हुए किसी के मुंह पर, पढ़ते हुए किसी शास्त्र ग्रंथ पर, थूक के छींटे नहीं गिरते। अंधड़ आजाने पर मुँह किरकिरा नहीं होता। सुप्तावस्था में मुंह पर मक्षिका आदि क्षुद्र प्राणी नहीं भिन-भिनाते। गर्दन टेढ़ी हो जाने के कारण घुर्राटे आने से या बड़बड़ाने से अयतना नहीं होती।

'सुप्तावस्था में'— मुंह से बायला पानी निकलने पर देखने वाले को बुरा प्रतीत न हो। सर्व साधारण लोग जैन श्रमण की पहचान, बांधी हुई मुखपत्ति से ही करते हैं। इत्यादि अनेकों ही स्वास्थ्य की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से, व्यवहार की दृष्टि से, डाक्टरी नियम की दृष्टि से सर्वदा सर्वत्र लाभदायक ही है। अतः श्रमणभूत साधक का वेष श्रमणतुल्य ही होता है।

श्रमणभूत के लिए केशलुंचन का विधान

यदि शक्ति हो तो केश दाढ़ी मूंछ का लुंचन करे यदि शक्ति न हो तो उस्तरे से मुण्डन करा दे। इसमें रहस्य की बात यह है कि ११वीं प्रतिमा धारण करने के दो उद्देश्य होते हैं, एक तो गृहस्थ साधुत्व जैसा जीवन बनाना अथवा साधुत्व

जीवन का रसानुभव करना। (जिसे वैदिक परम्परा में वानप्रस्थ वृत्ति कहते हैं।) दूसरा उद्देश्य होता है निर्ग्रन्थ बनने के लिए पूर्वाभ्यास करना। इनमें जो दूसरा अभिप्राय है, उस में तो जहां तक हो सके लुंचन अवश्य करना चाहिए, किन्तु पहले उद्देश्य की पूर्ति में लुंचन करना उसकी शक्ति पर ही निर्भर है। नियमेन विधान भी नहीं एवं निषेध भी नहीं। उस्तरे से मुंडवाने का नियमेन विधान है। वह चोटी नहीं रखता, क्योंकि उसके पास नंगी डंडी वाला रजोहरण रहता है। यह गृहस्थ की निशानी है। साधु वर्ग डंडी पर निशीथिया बांधते हैं। यह विधान आगमकारों ने साधुवर्ग तथा श्रावक वर्ग में अन्तर रखने के लिए किया है।

कोई भी व्यक्ति बिना किसी विशिष्ट उद्देश्य के अपने को कष्ट में धकेलना नहीं चाहता। यदि कष्ट झेलकर विशिष्ट लाभ होता हो तो वह अविलम्ब सहर्ष कष्ट झेलने के लिए उद्यत हो जाता है। किसी भी क्रिया का फल दो प्रकार से प्राप्त होता है, एक तात्कालिक और दूसरा पारम्परिक। जैसे प्यासा व्यक्ति सुपथ्य तथा शीतल नीर के पीते हुए आनन्दानुभूति करता है। यह नीर पीने का तात्कालिक फल है और कुछ घंटों तक उसका शुभ प्रभाव रहता है, शरीर स्वस्थ रहता है। यह है नीर पीने का पारम्परिक फल। इसी प्रकार केश लुंचन भी एक क्रिया है, जो कि कष्ट रूप प्रतीत होती है। यदि दिल में सच्ची लगन होती है तो वेदना भी मधुर बन जाती है। कोई भी भौतिक सुख हो, उसे ऐकान्तिक सुख ज्ञानी पुरुष नहीं मानते हैं, अर्थात् जो सुख आत्म विकास में बाधक है, उस सुख को ज्ञानी जन ठुकराते हैं, किन्तु जो दुःख आत्म विकास का साधक है उसे अपनाने में

उन्हें कोई झिझक नहीं होती। बस यही उदाहरण केश लुंचन पर घटित होता है। केशलुंचन यदि विरक्त भाव से किया जाता है तो, वह केशालंकार का साक्षात् बाधक है और ब्रह्मचर्य का साधक है जो सिंगार व विभूषा प्रिय होते हैं, वे केशलुंचन से घबराते हैं। केशलुंचन से सहिष्णुता बढ़ती है। साथियों को उसकी तितिक्षा का परिचय मिलता रहता है। जो केश-लुंचन की वेदना नहीं सहन कर सकता, वह श्रमणोचित कठोर वृत्ति या उसका पालन भी नहीं कर सकता। अतः सिद्ध हुआ कि केशलुंचन सहिष्णुता का परिचायक है। और साथ ही काय क्लेश रूप होने से निर्जरा का भी कारण है। सहिष्णुता 'विउसग्ग' तप है जो कि आन्तरिक तप में छटा भेद है। यदि सहिष्णुता नहीं है तो वाह्यतप भी नहीं है। जो जानबूझ कर कर्मक्षय करने के उद्देश्य से, सहिष्णुता बढ़ाने के लिए अपने आप को तप की भट्टी में झोंकता है, उसके लिए आगमों में उल्लेख है–"देहदुक्खं महाफलं" जो दुःख चारित्र का साधक है, वह दुःख भी कर्म क्षय का विशिष्ट कारण होने से अथवा पुण्यानुबन्धी पुण्य होने से महाफलदेने वाला बन जाता है। श्रमण और श्रमणभूत महाफल के ही इच्छुक होते हैं। इसी कारण वे दुख से भय भीत नहीं होते।

ईर्या समिति का पालन

जो धर्म श्रमण निग्रन्थों के लिए प्रतिपादन किया है, उस का काया से सम्यक्तया पालन करे, न कि मनोरथ मात्र से। यतना पूर्वक विचरते हुए यदि मार्ग में त्रस जीव अधिक हों, तो उस मार्ग को छोड़ दे व अन्य किसी मार्ग को ग्रहण करे। यदि अन्य कोई मार्ग न हो, तो उसी मार्ग में प्रयत्न-

शील होकर चले। सम्मुख त्रस प्राणियों को देख कर पहले तो साढे तीन कदम देख कर चले, फिर भी यदि त्रस प्राणी नजर आएं तो अपने पैरों को ऊपर उठा ले, अथवा संकुचित कर ले और मंद गति से गमन करे।

या पैरों को तिरछा करके किनारे-किनारे चले। सारांश यह हुआ जिस प्रकार उन जीवों को पीड़ा या विरावना न हो उसी प्रकार ईर्या समिति से गमन करे, क्योंकि उसे साधु की तरह ही प्रत्येक क्रिया में यत्न पूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए। उसकी प्रत्येक क्रिया संयम से ओत प्रोत होनी चाहिए। संयम रक्षा, आत्म रक्षा, और जीव रक्षा ये ही ईर्या समिति पालन करने का तात्कालिक फल है। निर्जरा और मोक्ष पारंपरिक फल है।

"एषणा समिति का परिपालन"

जब श्रमणभूत अपनी जाति के लोगों में भिक्षा के लिए जाय, तब उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो पदार्थ उसके जाने से पहले पक चुके हों और अग्नि से उतार कर किसी शुद्ध स्थान पर रक्खे हों, उन्हीं को ग्रहण करने का उसे अधिकार है, किन्तु जो पदार्थ उसके जाने के पश्चात् बने हैं, उन को वह ग्रहण नहीं कर सकता। जैसे कि उसके पहुंचने से पहले वहां चावल पके हुए हैं और दाल पकने वाली है या दाल पकी हुई है व चावल पकने वाले हैं, तो ऐसे समय में पहले पके हुए चावल या दाल ग्रहण कर सकता है। बाद के बने हुए को नहीं, फिर चाहे वह कुछ भी हो। सारांश यह निकला कि श्रमण की भांति श्रमणभूत भी ४२ दोष वर्जित कर के आहार ग्रहण करते हैं।

अनेषणीय और अप्रासुक आहार जान बूझ कर ग्रहण करना, तो निषिद्ध है ही, यदि भूल से ग्रहण कर लिया हो तो उस का आहार करना भी नितान्त निषिद्ध है।

श्रमण जैसी क्रिया करने पर भी श्रावक क्यों ?

श्रमणभूत की सारी क्रियाएं, श्रमण के तुल्य ही होती हैं। जिस ने अपना सम्बन्ध सचित्त अचित रूप नौ प्रकार के परिग्रह से सर्वथा विच्छेद नहीं किया। जिसका अपने सम्बन्धियों से व ज्ञातिवर्ग से ममत्व बन्धन, प्रेम तथा राग बन्धन, यत्किंचित् रूपेण विद्यमान है। उन बन्धनों को न तोड़ सकने के कारण वह श्रावक है, श्रमण नहीं है। किंतु श्रमण के तुल्य क्रिया करता है, इसी कारण उसे श्रमण कल्प या श्रमणभूत कहा है।

वह अपने सम्बन्धियों के घरों से, स्वजाति वर्ग के घरों से ४२ दोष टाल कर निर्दोष भिक्षा ग्रहण कर के अपनी जीवन यात्रा चलाता है। परन्तु अज्ञात कुलों में गोचरी नहीं करता, सामुदानिक भिक्षा भी नहीं ग्रहण करता, क्योंकि वह अभी गृहस्थ है। गृहस्थ में मान अपमान का विचार बना ही रहता है। स्वगोत्री, स्व ज्ञाति स्व सम्बन्धियों के घरों में भिक्षा मांगना कोई कठिन नहीं, क्योंकि सभी लोग उसे जानते हैं। अज्ञात कुल की गोचरी करने से उसके सम्बन्धी अपने कुल की हेठी समझते हैं, उनको हेठी न हो, इसी कारण स्वजाति तक ही उसकी गोचरी सीमित है। वह भी उसका एक मोह बन्धन है॥

भिक्षा ग्रहण करने की विधि

११वीं प्रतिमा धारण करने वाले श्रमणोपासक को जब

किसी गृहपति के घर में भिक्षाचरी के लिए जाना होता है, तब घर में जा कर उसे कहना चाहिए कि—

"प्रतिमाप्रतिपन्न श्रमणोपासक को भिक्षा दो"। मौन रूप से घरों में जाना तथा भिक्षा ग्रहण करना उसके लिए निषिद्ध और अकल्पनीय है।

जब कि श्रमणों का कल्प है मौन रूप से घरों में जाना। उसके लिए "श्रमण को भिक्षा दो" ऐसा कहना अनावश्यक है।

शंका हो सकती है कि श्रमणोपासक को गृहपति के घरों में मौन रूप से जाना निषिद्ध क्यों? और 'भिक्षा दो' ऐसा कहना अनिवार्य क्यों? और श्रमण के लिए मौन रूप से जाना-ऐसा कल्प क्यों? श्रमण को भिक्षा दो ऐसा कहना अनावश्यक क्यों?

इस का समाधान यह हो सकता है कि श्रमणोपासक का वेष श्रमण सदृश होता है। वेष की समानता देख कर कोई उसे श्रमण समझ ले, इस लिये उपर्युक्त शब्द बोलने से दूसरे के मन में होने वाली भ्रांति स्वयमेव दूर हो जाती है, वह गुमराह नहीं रहता और श्रमणोपासक चोरी के दोष से सर्वथा मुक्त हो जाता है। क्योंकि श्रमण न होते हुए श्रमण कहलाना चोरी है, जिसे 'रूप-चोर' कहते हैं।

दूसरी बात यह भी सिद्ध होती है कि भिक्षाचरी सिर्फ अपने सम्बन्धियों के ही नहीं बल्कि स्वजाति बन्धुओं के घर भी ग्रहण की जा सकती है। सम्बन्धी तो सभी जानते ही हैं, किन्तु स्वजाति वर्ग में ऐसे भी कई एक होते हैं, किन्तु जो उसे नहीं जानते हैं, उन्हें भी मालूम हो जाय कि यह श्रमणोपासक है।

तीसरी बात यह भी निकलती है-जो अभी तक पूर्णतया श्रमण नहीं बना, वह किसी के घर में बिना विशेष प्रयोजन के नहीं जा सकता है। यदि विशेष प्रयोजन से जाना पड़े, तो अपना परिचय और आने का प्रयोजन बताए बिना गृहपति के घर प्रविष्ट होना व्यवहार विरुद्ध है। इसी कारण उसे कहना पड़ता है कि प्रतिमा प्रतिपन्न श्रमणोपासक को भिक्षा दो। 'प्रतिमा-प्रतिपन्न श्रमणोपासक' यह शब्द उसके जीवन का परिचय देता है। "भिक्षा दो" यह उसके आने का विशेष यप्रोजन है।

क्या भिक्षावृत्ति उचित है

जैन दर्शन प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अपेक्षा से देता है, इसी कारण जैन दर्शन को 'अपेक्षावाद' भी कहते हैं। उसकी दृष्टि में भिक्षावृत्ति विहित है और निषिद्ध भी। पहली प्रतिमा से ले कर १०वीं प्रतिमा तक जितने भी श्रावक आराधक हुए हैं, उसके लिए भिक्षावृत्ति का कोई विधान नहीं है। क्योंकि भिक्षावृत्ति तीन प्रकार की होती है- १ पहली सर्वसम्पत्तिकरा भिक्षा, दूसरी वृत्तिभिक्षा, और तीसरी पौरुषघ्नी भिक्षा। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

जो तीन करण तीनयोग से आरभ के त्यागी बन चुके हैं, जो ४७ दोष वर्जकर ही आहार ग्रहण करते हैं, जो न स्वयं भोजन बनाते न दूसरे से कहकर बनवाते और अपने लिए बने हुए भोजन को प्राणकण्ठ में आने पर भी सदोष आहार नहीं ग्रहण करते, । जो आहार अचित्त है, गृहस्थ नेसिर्फ अपने लिए बनाया है, उसे निर्दोष होने पर ग्रहण

करते हैं। जिन के घर आने पर सद् गृहस्थ पूर्ण श्रद्धा होने से खुशी प्रकट करते हैं, जिन का जीवन समाज के लिए भार रूप नहीं है, जो स्व पर कल्याण में तत्पर हैं। ऐसे भिक्षुओं में श्रमण और श्रमणभूत श्रमणोपासक इन दोनों का समावेश हो जाता है। अन्य साधु तथा श्रावकों का नहीं। जो भिक्षु, साधु धर्म का सम्यक प्रकारेण पालन नहीं करते, सिर्फ पेट भराई के लिए साधु बनते हैं ऐसे पेटू वेषधारी साधु, समाज के लिए भार रूप हैं। भारत में ऐसे साधु लाखों की संख्या में हैं।

बहुत से लोग इन पेटू साधुओं को भी गुरु-बुद्धि से ही मानते हैं, यह वास्तव में विषम काल का प्रभाव है। विषम काल कैसा होता है? इसके विषय में शास्त्रकार स्वयं कहते हैं कि विषम कालमें सच्चे साधुओं की पूजा नहीं होती। अधिकतर असाधुओं की ही पूजा होती है। परन्तु जो लोग आत्मा का कल्याण चाहते हैं, वे तो साधु धर्म का बराबर पालन करने वाले साधु की पूजा करते हैं और उसी को अपना गुरु समझते हैं। असाधु को गुरु नहीं मानते।

सर्वसंपत्तिकरीभिक्षा से भिक्षु और दाता दोनों का ही कल्याण होता है। जो भौतिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार की सम्पत्ति का कारण हो, उसे सर्वसम्पत्तिकरीभिक्षा कहते हैं। वह निर्जरा और पुण्यानुबंधी पुण्य का कारण है।

दूसरी 'वृत्ति' भिक्षा है—इसके अधिकारी लंगड़े, लूले, अपांग, कोढ़ी, अतिवृद्ध, और अतिरोगी जो कि करुणा के पात्र हैं, जिन्हें देखकर जनता के हृदय में करुणा का स्रोत बहने लग जाता है जो न तो नौकरी चाकरी कर सकते हैं न अन्य किसी तरीके से कमा सकते हैं, एक मात्र भिक्षा से ही अपना

जीवन नर्वाह करते हैं। यह भिक्षा दयालु मनुष्यों द्वारा दी हुई है। इस वृति-भिक्षा को आगमों में न तो निन्दा ही की है और न प्रशंसा ही। इस वृत्तिभिक्षा को समाज भार रूप नहीं समझता, क्योंकि उन्हें यथाशक्ति कुछ दे कर ही अपने मन में पैदा हुई अनुकम्पा को शान्त किया जाता है। इसी कारण वह भार रूप नहीं है। अनुकम्पा भाव से कुछ देना, पुण्य का कारण है। यह है पुण्य बान्धने का अवसर। पुण्य और उसका फल कौन नहीं चाहता ? किसे प्रिय नहीं है ? दयालु पुरुप तो ऐसे अवसर पर अपना सर्वस्व भी देने में संकोच नहीं करते।

तीसरी 'पौरुपघ्नी, भिक्षा है। जो लोग हृष्ट-पुष्ट हैं, मिहनत मशक्कत करके कमा सकते हैं, जिन्हें देखकर जनमानस के अन्दर न श्रद्धा पैदा होती है और न करुणा ही। जो मिहनत मजदूरी करके नहीं, बल्कि भीख मांग कर अर्थ संग्रह करते हैं। भिक्षा के द्वारा प्राप्त संपत्ति से ऐश आराम भोग विलास करते हैं। जो आलस्य प्रमाद का सेवन करने वाले हैं, वे साधु समाज के लिए भार रूप ही हैं। लाखों की संख्या में वेषधारी साधु इस कोटि में समाविष्ट हैं अर्थात् जो पुरुपत्व धर्म का और पराक्रम का नाश करने वाली है ऐसी भिक्षा को पौरुपघ्नी कहते हैं।

"सिर मुंडे के तीन गुण, सिर की मिट गई खाज।
पकी पकाई रोटी मिले, लोग कहें महाराज॥"

तीन प्रकार के भिक्षुओं में से प्रथम कोटि के जो भिक्षु हैं, वे छह कारणों में से किसी एक कारण के होने पर ही निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं, अन्यथा नहीं। वे कारण निम्नलिखित हैं-

१. *वेदना शमनार्थ*—भूख प्यास इतनी बढ़ जाए जो कि सहन शक्ति से बाहर हो तो उसे शान्त करने के लिए आहार पानी ग्रहण करते हैं, न कि रसनेन्द्रिय की पोषणा के लिए। भूख-प्यास की मात्रा अधिक बढ़ने से आर्त ध्यान होने के कारण धर्म में बाधा उपस्थित हो जाती है, अथवा वेदना रोग आदि को भी कहते हैं. न खाने पीने से यदि तकलीफ होती हो, तो उस वेदना को शान्त करने के लिए भी आहार ग्रहण कर सकते हैं।

२. *वैयावृत्यार्थ*—गुरु या सहधर्मियों की सेवा करने के उद्देश्य से आहार पानी ग्रहण कर सकते हैं, अन्यथा सेवा नहीं हो सकेगी। यदि साधक अपने साथी की सेवा करना स्वकर्तव्य समझता है, तो सेवा करने के उद्देश्य से आहार पानी ग्रहण कर सकता है।

३. *ईर्यार्थ*—ईर्यासमिति की शुद्धि के लिए भी आहारादि ग्रहण करते हैं, क्योंकि जब भूख प्यास की प्रबलता बढ़ जाती है या न खाने पीने से शरीर दुर्बल होजाताहै तो दुर्बल व्यक्ति लड़-खड़ाता है। उस से अयतना होने की संभावना रहती है। रहस्य की दूसरी बात यह है कि न खाने से आँखों की ज्योति यदि मन्द पड़ रही हो तो आहार ग्रहण करना चाहिए, वरन् आँखों की ज्योति मन्द हो जाने से ईर्यासमिति का शोधन कठिन हो जाता है, अतः ईर्या समिति के सम्यक् पालनार्थ वे आहारादि ग्रहण करते हैं।

४. *संयमार्थ*—वे संयम पालन करने लिए आहार ग्रहण करते हैं। भूख प्यास की मात्रा अधिक बढ़ने से सचित्त पदार्थों के सेवन में प्रवृत्ति हो सकती है। उस से संयम का विघात होना निश्चित है। यदि आहार न करने से संयम नष्ट होता हो

तो संयम की रक्षा के लिए आहार करना अनिवार्य है, क्योंकि संयम की रक्षा करना परम आवश्यक है।

५. *प्राणरक्षार्थ*—प्राणों की रक्षा के लिए भी आहार ग्रहण करते हैं। अन्यथा अविधि से मृत्यु हो जाने की सभावना रहती है, अविधि से प्राणों का निकल जाना ही आत्म-घात है, आत्म-घात दुर्गति का पोषक होता है।

६. *धर्म चिन्तनार्थ*—वे धर्म चिन्तवन करने के लिए आहारादि ग्रहण करते हैं। अगर आहार न करने से धर्म चिन्तन में बाधा पड़ती हो तो आहार ग्रहण करना भी आज्ञा में ही है। अर्थात् यदि श्रुत धर्म एवं चारित्र धर्म के पोषण और परिवर्धन में समर्थ पंचविध स्वाध्याय में बाधा पड़ती हो तो आहार करना भगवान् की आज्ञा में है, बशर्ते कि वह आहार निर्दोष हो। भगवान् ने साधकों को आर्तध्यान एवं रौद्र ध्यान में अपना शरीर नष्ट करने के लिए आज्ञा नहीं दी, बल्कि शरीर निर्वाह के लिए और धर्माचरण करने के लिए निर्दोष आहार ग्रहण करने की भगवान ने आज्ञा दी है।

आर्त्तरौद्रध्यान—ध्यान के मौलिक भेद चार हैं, जैसे कि आर्तध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान। इन में आदि के दो ध्यान अप्रशस्त तथा दुर्गति के पोषक हैं। पीछे के दो ध्यान प्रशस्त एवं सुगति के कारण है। चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। आर्त्त तथा रौद्र ध्यान में भी चित्त एकाग्र होता है। आर्त्त ध्यान के चार भेद हैं, जैसे कि—१ प्रियवस्तु के न मिलने से इष्ट वस्तु के वियोग से आर्त्तध्यान होता है। २ अप्रिय वस्तु के मिलने से या अनिष्ट वस्तु का (सचेतन या अचेतन का) वियोग सोचने से आर्त्तध्यान होता है। ३ सदैव

रोग निवृत्ति की चिन्ता करने से आर्त्तध्यान होता है और ४ इच्छित काम भोगों की वासना में लिप्त रहना, विषयों का चिन्तन करना ये सब आर्त्तध्यान हैं।

इष्ट वियोग में, अनिष्ट संयोग में, रोग वृद्धि में, रोग शान्ति में या काम भोग में जो कारण बनता है, या बाधक बनता है, उसके विषय में हिंसा, झूठ, चोरी, द्वेष, या ईर्ष्या करना रौद्रध्यान है। आहार न करने से यदि आर्त तथा रौद्रध्यान पैदा होते हों, तो ६ कारणों से आहार कर सकते हैं। भगवान की आज्ञा है। जिस से अप्रशस्त ध्यान से निवृत्ति हो और प्रशस्त ध्यान में प्रवृत्ति हो वैसा प्रयत्न करना चाहिये।

आहार त्याग के कारण—कोई भी बाह्य पदार्थ एकान्त रूप से ग्राह्य नहीं है। जो वस्तु किसी समय लाभदायक होती है, वही वस्तु दूसरे समय में हानिप्रद भी होती है। जो वस्तु किसी समय में ग्राह्य है, वही कालान्तर में त्याज्य भी बन जाती है। फिर चाहे वह वस्तु कितनी ही अच्छी क्यों न हो। आहार के विषय में भी यही बात सिद्ध होती है। जिसका सेवन छह कारणों से किया जा सकता है। उस का त्याग भी छह कारणों से किया जा सकता है।

यदि आहार ग्रहण करने से आर्त्तरौद्र ध्यान पैदा होते हों या स्वास्थ्य को हानि होती हो या धर्म ध्यान में बाधा पड़ती हो, या अधिक लाभ से वंचित रहना पड़ता हो छह काय की विराधना होती हो तो निर्दोषआहार मिलते हुए या मिलने पर भी उसके त्याग देने में भगवान की आज्ञा है। इतना सदैव स्मरण रखना चाहिए कि भगवान की आज्ञा का सदैव सदुपयोग हो, दुरुपयोग न हो। आहार त्याग के ६ कारण निम्नलिखित है।

१. *आतंक*—जब कभी शरीर नाशक तथा भयानक रोग शरीर में पैदा हो जाए प्लेग प्लूरसी, फालिज, हैजा और निमोनिया इत्यादि प्राणनाशक रोग पैदा हो जाएं तब उसे आतंक कहते हैं। उपलक्षण से यदि ज्वर आदि रोग पैदा हो जाए तो ऐसे समय में आहार का परित्याग करना चाहिए, क्योंकि कई एक आतंक या रोग अजीर्ण कब्ज आदि से भी हो जाते हैं। जितनी शक्ति हो उतना लंघनक करने से अनेक प्रकार की व्याधियाँ शीघ्र शान्त हो जातीं हैं, रोग में आहार करने से स्वास्थ्य को हानि होती है और आहार न करने से आतंक रोग आदि शीघ्र शान्त हो जाते हैं

२. *उपसर्ग*—देवता सम्बन्धी, मनुष्य एवं तिर्यंच संबन्धी उपसर्ग होने के समय आहारादि का त्याग करना चाहिए। उपसर्ग दो प्रकार के होते हैं। एक अनुकूल और दूसरा प्रतिकूल। स्वजन आदि के मोहक तथा आकर्षक वचनों से, अभिनयों से, प्रलोभनों से साधक अपनी साधना से स्खलित हो सकता है। इसी प्रकार प्रतिकूल उपसर्ग होने पर भी जैसे कि अर्जुन माली के प्रतिकूल उपसर्ग होने के समय सुदर्शन सेठ ने आहारादि का त्याग किया। प्रायः उपसर्ग के समय आहारादि का त्याग करने से विघ्न बाधाएं शीघ्र निवृत्त हो जाती हैं। शुभ भावनाओं में बल रहता है।

३. *ब्रह्मचर्य गुप्ति*—यदि आहार करने से ब्रह्मचर्य गुप्ति ——— में बाधा पड़ती हो, सुरक्षित रखने का सामर्थ्य न हो, ...बेकाबू हो जाये और मन बलात् विषयों के चिन्तन में ...य तो ऐसे समय में ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखने के लिए ...आदि का परित्याग कर देना ही साधक के लिए ...: है।

४. *प्राणिदया हेतु*—प्राणियों की रक्षा के लिए आहार का त्याग करे यदि भूमि पर सूक्ष्म जन्तुओं की उत्पत्ति अधिक हो जाने से सुमार्ग नहीं रहा हो, या उड़ने वाले क्षुद्रक जन्तु जैसे टिड्डीदल निकल रहा हो या छोटे-छोटे मच्छर दिन में भी बहुत उड़ते हों या धुन्द, वर्षा, आंधी चल रही हो, तो उस समय गोचरी के लिए नहीं जाना यह प्राणी रक्षा के निमित्त आहार का त्याग करना कहलाता है।

५. *तपो हेतु*—सकुशल होते हुए भी तप करने की भावना से उपवास, वेला तेला, अट्ठाई, १५ का थोक मासखमण इत्यादि तप करने के लिये आहार का त्याग किया जाता है। तप निर्जरा के उद्देश्य से किया जाता है। प्रायश्चित्त वहन के लिए, मनोवृत्तियां शान्त रखने के लिए, और श्रुत की आराधना करने के लिए तप किया जाता है। वह अनशन आदि बाह्य तप, आर्त्तरौद्र ध्यान के निरोध के लिए और धर्मध्यान को सफलीभूत बनाने के लिए ही किया जाता है।

६. *शरीर व्यवच्छेदार्थ*—यदि किसी साधक को यह अनुभव होजाय कि मेरा शरीर अब कुछ मिनटों में, कुछ घण्टों में या कुछ दिनों में नष्ट होने वाला है। इस प्रकार का ज्ञान निःसन्देह यथार्थ एवं सत्य होजाय; तो ऐसे समय में साधक को चाहिए कि जब तक शरीर में अन्तिम श्वास है, तब तक यथाशक्य आहार के मिलने पर भी उसका परित्याग करदे। क्योंकि आहार त्यागने से शरीर पर मोह नहीं होता। मोह न होने से शरीर नष्ट होते हुए भी शोक विषाद आदि विकार शरीर में नहीं पैदा होते। शरीर के नष्ट होते हुए भी शोक विषाद आदि विकार शरीर में नहीं पैदा होते। शरीर के नष्ट होने के साथ-

साथ सभी बुराइयों का समूल नाश हो जाता है। सच्चे साधक वे ही हैं जो इन ६ कारणों से आहार नहीं करते।

कैसे उत्तर दे

मुनि सदृश क्रिया करते हुए और मुनिसदृश वेष से विचरते हुए, यदि कोई उसे देख कर पूछने लगे कि हे आयुष्मन्! आप कौन हैं ? तब उसे कहना चाहिए कि-मैं प्रतिमाप्रतिपन्न श्रमणोपासक हूँ। यही मेरा स्वरूप है। मैं श्रमण नहीं हूँ'। इस प्रकार स्पष्ट उत्तर देकर पूछने वाले की शका दूर करे।

यदि कोई उसे श्रमण समझ कर वन्दना करने लगे तो कह देना चाहिए मैं श्रमण निर्ग्रन्थ नहीं हूँ" क्योंकि सर्व साधारण लोग श्रमण और श्रमण-कल्प श्रावक में कोई विशेष अन्तर नहीं देखते, और वन्दना करने लग जाते हैं, किंतु श्रमण न होते हुए श्रमण को प्रतिष्ठा प्राप्त करना आध्यात्मिक चोरी है। हां यदि कोई श्रमणोपासक को श्रमणोपासक समझ कर ही वन्दना करे, तो वह बात अलग है। फिर चोरी का दोष नहीं लगता। दिगंबर परंपरा में इस प्रतिमाधारी को एलक कहते हैं।

इस प्रतिमा का कालमान जघन्य एक दिन, दो दिन, तीन दिन तथा उत्कृष्ट ११ मास है। मध्यम के अनेकों भेद हैं। फिर चाहे पुनः उसी प्रतिमा को धारण करे या दीक्षा ग्रहण करे, यह उसकी शक्ति पर निर्भर है।

परिशिष्ट

अतिथि-संविभाग व्रत

श्रावक के ग्यारह व्रतों का वर्णन प्रतिमाओं में हो चुका है। यहां परिशिष्ट में बारहवें व्रत का वर्णन दिया जा रहा है।

जिनके आने का समय, दिन,तिथि कोई निश्चित न हो उन्हें 'अतिथि' कहते हैं। उच्च प्रकार की आत्मोन्नति की साधना के लिए जिन्होंने गृहवास का त्याग कर दिया और विरति परायण होकर संन्यास मार्ग को स्वीकार किया है। ऐसे श्रमण निर्ग्रन्थों का तथा ११ प्रतिमाप्रतिपन्न श्रमणोपासकों को, धर्म-साधनोपयोगी आवश्यकताओं को पूर्ण करना, न्यायोपार्जित, प्रासुक, निर्दोष, खान पान आदि योग्य वस्तुओं का, इस रीति से शुद्ध भक्तिभाव पूर्वक सुपात्रदान देना (जिस से कि उभयपक्ष को लाभ पहुंचे) वह 'अतिथि संविभाग व्रत' कहलाता है।

अन्य भिक्षाचरों का समय, दिन, तिथि, निश्चित की जा सकती है। वह चाहे सरकार के द्वारा हो या समाज के द्वारा, परन्तु श्रमण निर्ग्रन्थ या श्रमणभूत-श्रावक के लिए समय या तिथि निश्चित नहीं की जा सकती है, क्योंकि उनके दिन प्रायः तपस्या में व्यतीत होते हैं। जब आहार ग्रहण करने के छः कारणों में से कोई सा भी कारण आ पड़े, तब भिक्षा के लिए उठते हैं। वे किसी का दिया हुआ निमंत्रण भी स्वीकार नहीं करते। वे गृहस्थ को अपने आने या न आने का वायदा

या संकेत भी नहीं करते। वे घरों में जाने की वारी भी नहीं बांधते। यदि उनका धारण किया हुआ अभिग्रह फलित हो जाय तब वे आहार ग्रहण करते हैं। इसी कारण वे अतिथि कहलाते हैं, अन्य भिक्षाचरों को ऐसी परिस्थिति नहीं होती, इसी कारण वे अतिथि नहीं कहलाते।

अतिथि के पधारने पर, श्रमणोपासक अपने उपयोग में आने वाली वस्तुओं को महालाभ का स्वर्ण अवसर जानकर, स्वयं संतोष धारण कर विधिपूर्वक बहराना-यही अतिथिसंविभाग व्रत है। दान धर्म जीवन के समग्र सद्गुणों का मूल है। अतः उसका विकास पारमार्थिक दृष्टि से अन्य सद्गुणों के उत्कर्ष का आधार है। न्याय नीति से अपने को प्राप्त हुई वस्तु को दूसरे के लिए अर्पण करना। अर्पण उसी को कहते हैं, जिससे उसके कर्त्ता और स्वीकार करने वाले दोनों पर उपकार हो। अर्पण करने वाले का मुख्य उपकार तो यह है कि वस्तु पर से ममता हट जाए और उसे संतोष तथा समभाव की प्राप्ति हो।

स्वीकार करने वाले का उपकार यह है कि उस वस्तु से उसके संयमी जीवन यात्रा में सहायता मिले और परिणाम स्वरूप सद्गुणों का विकास हो। अतिथि के लिए अपनी विशिष्ट जीवन सामग्री का दान करना, इसी को अतिथिसंविभाग कहते हैं। अतिथि के लिए संविभाग करने की प्रतिज्ञा को अतिथिसंविभाग व्रत कहते हैं।

जिसने अतिथिसंविभाग व्रत धारण किया हुआ हो, उसे चाहिए कि जब भोजन करने बैठे, तब कुछ समय गुरुजनों का ध्यान करे-प्रतीक्षा करे, यदि गुरुजन अपने क्षेत्र में पधारे हुए हों, तो उस श्रावक का कर्त्तव्य हो जाता है कि रात्रि में

भोजन न करे। सचित्त वस्तु का आहार भी न करे। आप भी सदैव सूझता रहे और देयवस्तु भी असूझती वस्तुओं से अलग रक्खे। दिन में अपने घर का द्वार खुला रक्खे। जब अतिथि पधारें तब तुरन्त उत्तरीय से मुख को आच्छादित करे विधिपूर्वक वन्दना नमस्कार करके १४ प्रकार की वस्तुओं में से जिस वस्तु की उन्हें आवश्यकता हो, उसे सहर्ष प्रदान करना बहराना या स्वयं अपनी बुद्धि से उनको आवश्यकता को समझ कर बहराना। उनके ज्ञान दर्शन चारित्र की जैसे भी वृद्धि हो वैसी वस्तु बहराना। इससे भी उसका परम कल्याण होता है।

शंका—कुछ एक विचारकों का यही अभिमत है कि किसी भी भिक्षाचर को जो कि भिक्षा के लिए द्वार पर खड़ा हो गया, कुछ न कुछ उस की झोली में डाल देना भी अतिथि-संविभाग व्रत में समाविष्ट हो जाता है। तो क्या उनका यह अभिमत सत्य है ?

समाधान—अतिथिसंविभाग व्रत में धर्मदान के अतिरिक्त अन्य दानों का समावेश नहीं होता। धर्मदान परम श्रद्धा भक्ति से दिया जाता है। वह निर्जरा और पुण्यानुबंधी-पुण्य का मूल कारण है। इसलिए उस की ही अतिथिसंविभाग व्रत में गणना हो सकती है अन्य की नहीं। अनुकम्पा आदि दान किसी भी व्रत का बाधक नहीं है। अतिथिसंविभाग व्रत सम्यक्त्व का पोषक व मिथ्यात्व का शोषक है। अतिथिसंविभाग व्रत के जो पांच अतिचार हैं, उनसे पूर्णतया स्पष्ट होता है कि अतिथि शब्द श्रमण माहण के अतिरिक्त अन्य भिक्षाचरों के लिए प्रयुक्त नहीं होता। जैसे कि—

१. सचित्तनिक्षेप—ऐसा खान पान जो कि देने योग्य वस्तु

है, उसे न देने की इच्छा से या गफलत से सचित्त वस्तु पर रख देना अर्थात् जलते हुए चुल्हे पर, अंगीठी पर, पृथ्वीकाय, अपकाय, तथा वनस्पतिकाय पर रखना, क्योंकि ऐसा आहार श्रमण माहण कदापि नहीं ग्रहण करते।

२. *सचित्तपिधान*—देने योग्य प्रासुक एषणीय आहार को न देने की इच्छा से सचित्त पदार्थ से ढांक देना या सचित्त पर रक्खी हुई वस्तु, सचित्त से ढाँकी हुई वस्तु या सचित्त से संघट्टित वस्तु को देने का प्रयत्न करना। ऐसा आहार श्रमण माहण बिल्कुल नहीं ग्रहण करते। अन्य भिक्षाचरों को इस बात का विवेक ही नहीं होता, अतः उनके निमित्त श्रमणोपासक को उपर्युक्त अतिचार नहीं लगते।

३. *परव्यपदेश*—स्वयं आप न देकर नौकर आदि दूसरे को देने के लिए कहना। दूसरे के द्वारा दिलाने से अपना व्रत फलित नहीं होता। या अपनी देय वस्तु "यह दूसरे की है" ऐसा कहकर उसके दान से अपने आपको मान पूर्वक बचा लेना। अथवा जिस देय वस्तु पर अपना स्वामित्व नहीं, उसे देकर अपनी वस्तु बचा लेना अतिचार है।

४. *मात्सर्य*—दूसरे के दान गुण की ईर्ष्या से दान देने के लिए उद्यत होना (श्रद्धा भाव से देना अतिचार नहीं, ईर्ष्याभाव से देना अतिचार है) दान देते हुए भी आदर न रखना, देकर मन में कुढ़ना पश्चाताप करना अतिचार है।

५. *कालातिक्रान्त*—अतिथि को कुछ देना न पड़े, इस अभिप्राय से भिक्षा का समय होने से पूर्व या पश्चात् या रात्रि को ही खा पी लेना अथवा जो वस्तु खराब हो चुकी है, अपने काम की नहीं रही, ऐसी वस्तु देना, असमय में विनति करना

अतिचार है। अब पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि अतिथि शब्द किन के लिए प्रयुक्त होता है और किन के लिए नहीं।

शंका—आगमकारों ने 'अतिथि' शब्द का प्रयोग क्यों किया ? और 'श्रमण माहन सविभाग' व्रत क्यों नहीं कहा ?

समाधान—श्रमण, माहण, श्रमणी और श्रमणभूत-श्रावक, इन चारों का अन्तर्भाव अतिथि शब्द में ही हो जाता है। क्योंकि अतिथि शब्द व्यापक है। उपर्युक्त चारों किसी तिथि को निश्चित करके गोचरी के लिए नहीं चलते। ऐसी उन सब की प्रतिज्ञा है, इसलिए उन्हें अतिथि कहते हैं।

"समणोवासए णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणे किं लभइ ?

गोयमा ! समणोवासए णं तहारूवं समणं वा माहणं वा जाव पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहिं उप्पायइ।"

समाहिकारए णं तामेव समाहिं पडिलभइ ॥

(भ० सू० शतक ७ वां उ० १)

प्रश्न—भगवन् ! तथारूप श्रमण माहन को प्रासुक एषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम यह चार प्रकार का आहार बहराने से श्रमणोपासक को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! तथारूप श्रमण माहन को प्रासुक एषणीय आहार बहराने से जो चित्तसमाधि और शरीर समाधि, श्रमण माहन को प्राप्त होती है, वही समाधि श्रमणोपासक को प्राप्त

हो सकती हैं, क्योंकि वह समाधि का जनक है। जो क्षुधित पिपासित तथारूप श्रमण माहन के मन वाणी और काय को स्वास्थ्य लाभ हुआ है। वे स्वस्थ हो कर समाधि युक्त होकर धर्मचिन्तन में तत्पर होते हैं। उसी उत्तम समाधि का लाभ श्रमणोपासक को भी प्राप्त हो सकता है। अर्थात् आत्म संयम को जो भौतिक तथा आध्यात्मिक सुख और शान्ति प्राप्त होती है उसी सुख और शान्ति का अधिकारी श्रमणोपासक बन सकता है।

कल्याण परम्परा

प्रश्न—"समणोवासए णं भंते ! तहारूवं समणं वा जाव पडिलाभेमाणे किं चयइ ?

उत्तर—गोयमा। जीवियं चयइ, दुच्चयं चयइ, दुक्करं करेइ, दुल्लहं लहइ, बोहिं बुज्झइ, तओ पच्छा सिज्झइ जाव अन्तं करेइ।"

(भगवती सू० श० ७वां उ० पहला)

प्रश्न—भगवन् ! तथारूप श्रमण माहन को असणं पान आदि चारों प्रकार के आहार वहराते हुए श्रमणोपासक किस का त्याग करता है ?

उत्तर—गौतम ! तथारूप श्रमण माहन को आहार वहराते हुए श्रमणोपासक 'जीवियं चयइ'—अपने जीवन का बलिदान करता है, क्योंकि अशन आदि पदार्थ उपचार से जीवन कहलाते हैं, क्योंकि इनसे ही जीया जाता है। श्रमणोपासक स्वयं सन्तोष धारण कर लेता है और अपने जीवन साधन को तथारूप श्रमण माहन को वहराता है।

अथवा कर्मों की दीर्घस्थिति रूप अशुद्ध जीवन का त्याग करता है! कर्मों की लम्बी स्थिति को छोटी बनाता है और तीव्र विपाक को मन्दरस बनाता है।

'दुच्चयं चयइ,,— जिस वस्तु का त्याग करना सर्वसाधारण के लिए कठिन है. उस वस्तु पर ममत्व हटाने में वह क्षण मात्र भी देर नहीं करता, फिर चाहे वह कितनी ही परमप्रिय वस्तु हो। अथवा जो कर्म दलिक संचित किए हुए हैं, उनका त्याग करता है अर्थात् उनकी निर्जरा करता है।

दुक्करं करेइ—परम प्रिय वस्तुको वहराना कठिन नहीं वल्कि कठिनतर है। ऐसा करना जब इतरों के लिए दुष्कर है, तब श्रमणोपासक के लिए वही सुकर बन जाता है। अथवा कठिनता से करने योग्य ऐसा जो अपूर्वकरण है, उससे कर्म ग्रंथि का भेदन करता है।

'दुल्लहं लहइ'— तथारूप श्रमण माहन को आहार पानी आदि वहराने से दुर्लभ को भी सुलभ करता है। जिसका पाना हरएक के लिए दुर्लभ है, उसे वह सरलता से प्राप्त कर सकता है। जैसे कि क्षायिक सम्यक्त्व, तीर्थंकर नामगोत्र, अवधिज्ञान, आदि उसके लिए सुलभ बन जाते हैं।

'बोहिं बुज्झइ'—क्रियात्मक सम्यग्ज्ञान दर्शन को बोधि कहते हैं, अथवा जो ज्ञान दर्शन, चारित्र के अभिमुख है, वैसी परिस्थिति के हो जाने को बोधि कहते हैं। अथवा ज्ञान दर्शन की पराकाष्ठा को बोधि कहते हैं, उसे प्राप्त करता है। अरिहंत पद को प्राप्त करता है। कैवल्य प्राप्त करता है। चारित्र की पराकाष्ठा को मोक्ष कहते हैं। इस क्रिया का अन्तिम फल मोक्ष है। इस प्रकार वह श्रमणोपासक तथारूप

श्रमण माहन को आहार वहराने से कल्याण की परम्परा बढ़ाता है।

"तथारूप" शब्द की व्याख्या

वेष क्रिया का प्रतीक भी होता है और साधक का परिचायक भी। साधक जिस शैली से धार्मिक क्रिया करता है, उसके अनुरूप ही वेष पहनता है-विपरीत नहीं।

जो वीतराग प्रतिपादित ज्ञान क्रिया की आराधना करने वाले हैं, वेष के अनुरूप आत्मविकास करते हैं, उन्हें तथारूप श्रमण माहन कहते हैं।

अथवा श्रमण और माहन शब्द के पीछे जो व्यापक व्याख्या गर्भित है, वह जिस व्यक्ति में पाई जाये, वही श्रमण माहन हैं।

जो साधक वेष के अनुरूप क्रिया नहीं करते उन श्रमण माहन के साथ तथारूप नहीं जोड़ा जाता। भाव निक्षेप से जो श्रमण माहन हैं, उन्हीं को तथारूप श्रमण माहन कहा जाता है। आगमों में जहां कहीं तथारूप शब्द निरपेक्ष श्रमण माहण का प्रयोग किया हुआ है, वह द्रव्य निक्षेप से श्रमण माहण के लिए है, न कि भाव निक्षेप के लिए। ऐसे श्रमण माहन का यहां प्रसंग नहीं है। जैसे कि—

जहा ढंका य कंका य, कुलला मग्गुका सिही।
मच्छेसणं झियायंति, झाणं ते कलुसाधमं।
एवं तु "समणा" एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
विसएसणं झियायंति, कंका वा कलुसाहमा।

जैसे ढंक, कंक, कुरर, जलमुर्ग और शिखी नामक पक्षी, जल में रह कर सदा मच्छली पकड़ने के खयाल में रत रहते हैं, इसी प्रकार अन्यदर्शनी, स्वाद सुख और अहंकार में आसक्त, अनार्य कर्म करने वाला मिथ्यादृष्टि श्रमण, सदैव विषय प्राप्ति का ध्यान करते रहते हैं। वे वस्तुतः पापी और नीच हैं।

जहा आसाविणिं नावं, जाइ अंधो दुरूहिया।
इच्छइ पारमागंतु, अन्तरा य विसीयइ॥
एवं तु "समणा" एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
सोयं कसिणमावन्ना, आगंतारो महब्भयं॥

जैसे जन्मान्ध पुरुष, सैकड़ों छिद्रों वाली नाव पर चढ़कर नदी से पार जाना चाहता है, परन्तु नाव छिद्र युक्त होने के कारण वह पार गामिनी नहीं होती किन्तु जल के मध्य में ही डूब जाती है। इसी प्रकार जो मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण हैं। वे मोह भंवर को प्राप्त हुए, पुनः पुनः संसार में पर्यटन करते हुए, नरक आदि दुःखों को प्राप्त करते हैं। जैसे छिद्र वाली नाव पर बैठे हुए पुरुष जल में डूब जाते हैं, इसी तरह श्रमणाभास भी संसार सागर में डूबते हैं। "सूयगड सूत्र"

कोहो य माणो य वहो य जेसिं।
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते "माहणा" जाइ–विज्जा–विहूणा,
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं॥

(उत्तरा० अ० १२)

अर्थ— जो क्रोध, मान माया और लोभ तथा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से युक्त हैं जो माहण, जाति और विद्या से रहित हैं। निश्चय ही वे पापरूप क्षेत्र हैं। सारांश कि चार कषाय और पांच आश्रवों से जो निवृत्त हो गए हैं, वही वास्तव में माहण या पुण्यक्षेत्र हैं। इसके अतिरिक्त माहणाभास हैं। इस प्रकार के श्रमण माहणों का समावेश प्रस्तुत पाठ मे न हो जाए, इसलिए उन्हें पृथक करने के लिए सूत्रकार ने 'तहारूव' (तथारूप) शब्द का निवेश दिया है। जो सच्चे अर्थों में श्रमण माहण हैं, उन्हीं को तथारूप श्रमण माहण कहते हैं।

श्रमण माहन

प्रत्येक तीर्थंकर के शासनकाल में निर्ग्रंथ परम्परा, दो धाराओं मे विभक्त होकर बहती है। एक में वे मुनिवर समाविष्ट है जो केवल आत्मार्थी, आत्म साधना में तत्पर, उत्कृष्ट चारित्रवान, घोर तपस्वी, शुद्ध संयमी, अमायी, शान्त दान्त, विनीत सहिष्णु, ज्ञानी, ध्यानी, योगी, स्वाध्याय—परायण, वीतरागसंयमी है। जैसे कि काकंदी के धन्य अणगार, ढढणमुनि, गजसुकुमार इत्यादि।

दूसरी परम्परा में वे मुनिप्रवर समाविष्ट हैं जो निरतिचार संयम पालन करते हुए, स्वमत परमत के विज्ञ हैं। प्रवचन प्रभावना में प्रवीण हैं। भव्य प्राणियों को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगाने के लिए सिद्धहस्त हैं।

जहां जुल्म अत्याचार अधिक बढ़ रहा हो, जनता सत्य सदाचार से दूर हो रही हो, वहां निर्भीक होकर धर्मोपदेश देने में तथा जो अहिंसामय उपदेश देकर लोगों के मन में

दया की लहर पैदा करने में निष्णात हैं। इनमें निर्ग्रंथ की पहली परम्परा को श्रमण कहते हैं और दूसरी परम्परा को माहण।

अथवा अचेलक निर्ग्रंथों को श्रमण कहते हैं और सचेलक निर्ग्रंथों को माहण।

अथवा पार्श्वनाथ भगवान् के शासन काल में निर्ग्रंथों को प्रायः 'श्रमण' कहते थे जैसे कि राजा प्रदेशी को सन्मार्ग में लगाने वाले 'केशीकुमार श्रमण', गौतम स्वामी के साथ संवाद करने वाले 'केशीकुमार श्रमण', इत्यादि।

भगवान् महावीर के शासन में विचरने वाले निर्ग्रंथों को 'माहन' कहने लगे, क्योंकि उन्होंने सर्वप्रथम संसार को 'मा हन' अर्थात् किसी को मत मारो, सभी जीना चाहते हैं, किसी के द्वारा कोई मरना नहीं चाहता। सभी को दुःख और मरण अप्रिय है, एवं सुख और जीवन सभी को प्रिय है। खुद जीओ और दूसरों को जीने दो। जिनका यही उपदेश था कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' वे निर्ग्रंथ 'माहन' कहलाए।

अथवा महावीर की परम्परा को माहन कहने का एक और भी कारण है। भगवान् के ११ गणधर तथा ४४०० उनके छात्र, सभी ब्राह्मण थे। उन्होंने एक ही दिन भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की है, अर्थात् भगवान् की श्रमण परम्परा ब्राह्मणों से चालू हुई। क्योंकि ब्राह्मण का प्राकृत में 'माहण' बनता है। 'माहण' शब्द प्राकृत का है। इसकी संस्कृत छाया 'ब्राह्मण' और 'माहन' ये दो रूप बनते हैं।

अथवा उत्तराध्ययन सूत्र के २५वें अध्ययन में ब्राह्मण के लक्षण बतलाए हैं। जयघोष मुनिपुंगव ने अपने सहोदर भ्राता

विजयघोष ब्राह्मण को ब्राह्मणत्व का परिचय दिया है। ऐसे लक्षणों से सम्पन्न ब्राह्मण को ही वस्तुतः हम 'माहण' कहते हैं।

अथवा सर्वविरति, पूर्ण त्यागी अणगार को श्रमण कहते हैं और ११वीं प्रतिमाप्रतिपन्न श्रमणभूत श्रावक को माहन कहते हैं।

अथवा श्रमण माहन ये दो शब्द अलग-अलग न देकर इनका सूत्रों में क्रमशः इकट्ठा ही प्रयोग किया है। इसका आशय यह भी हो सकता है कि एक ही व्यक्ति में ये दोनों शब्द घटित हो जाते हैं जैसे कि संयम तप में सतत परिश्रम करने से श्रमण और वही अहिंसामय उपदेश देने से माहन भी कहलाता है अर्थात् श्रमण शब्द जीवन के सर्वतोमुखी विकास से सम्बन्धित है, और माहन उपदेश से। श्रमण स्वकल्याण का द्योतक है और माहन परकल्याण का अर्थात् जो स्वकल्याण और परकल्याण करता है, उसे तथारूप श्रमण माहन कहते हैं।

अथवा जो उत्तर गुणों के आराधक हैं वे श्रमण हैं।

जो मूल गुणों के आराधक हैं वे माहन हैं।

श्रमण शब्द की शास्त्रीय व्याख्या

"एत्थ वि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाणं च, अतिवायं च, मुसावायं च, बहिद्धं च, कोहं च, माणं च, मायं च, लोहं च, पिज्ज च, दोसं च, इच्चेव जओ जओ आदाणं अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरए पाणाइवाया सिया दंते दविए वोसट्ठकाए समणे त्ति वच्चे।

(सूय० अ० १६वां)

जो साधु पूर्वोक्त गुणों से युक्त होकर शरीर आदि में

आसक्त न रहता हुआ अपने तप, संयम आदि का सांसारिक सुख रूप फल की कामना नहीं करता, प्राणातिपात नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, चोरी नहीं करता, मैथुन सेवन नहीं करता, परिग्रह का त्यागी है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष नहीं करता अर्थात् जिन-जिन कार्यों से कर्म-बन्ध होता है, आत्मा हेय का पात्र बनता है, उनसे निवृत्ति लेकर इन्द्रियों पर विजय पाता है। शरीर की भी आसक्ति पूर्वक परिचर्या नहीं करता, उसे श्रमण कहते हैं। जो तप में, संयम में, उत्थान में, उन्नति में, प्रगति में, पंडित वीर्य में, सतत स्वयं ही परिश्रम करता है। जो सदैव सर्वत्र समभावी है, जो स्वावलम्बी है, बुराइयों से घृणा करने वाला है, वह श्रमण कहलाता है।

माहन की शास्त्रीय व्याख्या

"विरए सव्व पावकम्मेहिं, पिज्ज, दोस, कलह, अब्भक्खाण पेसुन्न, परपरिवाय, अरतिरति, मायामोस, मिच्छादंसणसल्ल, विरए, सहिए, समिए, सयाजए, नो कुज्झे, नो माणी, माहणे त्ति वच्चे=" (सूय अ० १६)

जो साधु पूर्वोक्त १५ अध्ययनों में कहे हुए अर्थ के अनुसार आचरण करता हुआ सावद्य अनुष्ठान रूप सर्व पाप कर्मों से निवृत्त रहता है। प्रिय वस्तु में राग, अप्रिय वस्तु में द्वेष, क्लेश, झूठा कलंक लगाना, दूसरों के गुणों को न सहन करके चुगली करना, दूसरे की निन्दा करना, संयम से उद्विग्न होना, विषय में आसक्ति बढ़ाना, माया से झूठ बोलना, मिथ्यादर्शन शल्य अर्थात् अतत्त्व को तत्त्व, एवं तत्त्व को अतत्त्व समझना; जैसे कि—

१. जगत में कोई पदार्थ नहीं है।

२. कोई पदार्थ नित्य नहीं है।

३. आत्मा कर्मों का कर्त्ता नहीं है।

४. कर्मों का भोक्ता आत्मा नहीं है।

५. मोक्ष कोई पदार्थ नहीं है।

६. उसकी प्राप्ति का कोई उपाय नहीं है।

ये छह मिथ्यात्व के स्थान हैं। ये सब शल्य के तुल्य हैं, इसलिए इन पापों से जो निवृत्त है। जो पाँच प्रकार की समितियों से युक्त है, एवं ज्ञानादिगुणों से युक्त है। जो सत्संयम के अनुष्ठान में सदैव प्रवृत्त है। जो अपने सद्‌अनुष्ठान को कषायों से मलिन नहीं करता, जो अपकारी के ऊपर भी क्रोध नहीं करता, जो उत्कृष्ट तपस्या करता हुआ भी अभिमान नहीं करता, इस प्रकार पूर्वोक्त गुणों से युक्त जो साधु हैं, उनको निःसन्देह माहन कहना चाहिए। ये हैं माहन के लक्षण।

भगवती सूत्र में आए हुए क्रमशः तीन पाठों की व्याख्या

प्रश्न—'समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएणिज्जेणं असण—पाण—खाइम—साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ' ?

उत्तर—'गोयमा! एगंत से निज्जरा कज्जइ नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ'।

अर्थ—प्रश्न-भगवन्! तथारूप श्रमण माहन को प्रासुक एषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वहराते हुए श्रमणोपासक को क्या फल मिलता है ?

उत्तर—गौतम! उस श्रमणोपासक को एकान्त निर्जरा

होती है अर्थात् वह एकान्त रूप से संचित कर्मों की निर्जरा करता है तथा पाप कर्म बिल्कुल नहीं बांधता, क्योंकि जब वह निर्दोष आहार पानी परम श्रद्धा से बहराता है, तब उस समय उसके परिणाम विशुद्ध होते हैं। भावों की विशुद्धि जब तक चालू रहती है तब तक सतत कर्मों की निर्जरा होती ही रहती है। जब समयान्तर में विशुद्धता नहीं रहती, उसमें कुछ कमी हो जाती है, तब पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध चालू होता है‡। निर्जरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। पुण्यानुबन्धी पुण्य से वह भौतिक सुख मिलता है जो धर्म आराधना में बाधक न हो परन्तु पाप कर्म तो बिल्कुल नहीं बांधता।

प्रश्न—'समणोवासगस्स णं भंते ? तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण—पाण—खाइम—साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?'

उत्तर—'गोयमा ! बहुतराए से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पावेकम्मे कज्जइ।'

अर्थ—प्रश्न-भगवन् ! तथारूप श्रमण माहन को अप्रासुक अनेषणीय आहार बहराते हुए श्रमणोपासक को क्या फल मिलता है ?

उत्तर—गौतम ! वह बहुतर तो निर्जरा करता है और अल्पतर पाप कर्म करता है। यदि निर्जरा और पाप कर्म दोनों की तुलना की जाए तो निर्जरा की अपेक्षा पाप कर्म अल्पतर और पाप कर्म की अपेक्षा निर्जरा बहुतर होती है।

‡ बन्ध तो निर्जरा के समय भी चालू रहता है, किंतु वह नगण्य है। वह अबन्ध दशा तो है ही नहीं।

गौतम स्वामी ने पहले प्रश्न में प्रासुक एषणीय आहार वहराने का फल पूछा है और दूसरे प्रश्न में तथारूप श्रमण माहन को अप्रासुक अनेषणीय आहार वहराने का फल पूछा है। पहले तरीके से दिया हुआ आहार एकान्त लाभप्रद ही होता है और दूसरे प्रकार से दिया हुआ लाभ अधिक, और नुक्सान अल्पतर है-ऐसा उत्तर देकर (भगवान् ने) समाधान किया है।

शंका—एक ओर तो आगमों में विल्कुल स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि तथारूप श्रमण माहन को अप्रासुक अनेषणीय आहार वहराने से जीव अल्पायु का वन्ध करता है। और दूसरी ओर प्रस्तुत पाठ से यह सिद्ध होता है कि अप्रासुक अनेषणीय आहार से श्रमण माहन को लाभवंत करने से श्रमणोपासक को निर्जरा अधिक तथा पाप कर्म अल्पतर होता है। इन दोनों पाठों की संगति कैसे हो सकती है ?

समाधान—जैन दर्शन का अस्तित्व अनेकान्तवाद पर ही निर्भर है। यदि श्रमणोपासक का तथारूप श्रमण माहन को अप्रासुक अनेषणीय आहार से लाभान्वित करने का उद्देश्य यह हो कि ये मेरे गुरु हैं इन से मेरा व्यक्तिगत राग है या इन से पूर्व परिचित होने से स्नेह है। या इन को मेरे ऊपर अनन्य कृपा दृष्टि वनी रहे। या इनसे मुझे लौकिक कार्य की सफलता के लिए सहयोग मिलता रहे। या इन्हें अन्य घरों में भिक्षा के लिए न जाना पड़े इस दृष्टि से जैसा सुस्वादु भोजन पानी अपने घर में प्रतिदिन नहीं बनता वैसा आहार छः काय की विराधना करके तैयार करता है जो कि रसनेन्द्रिय तथा नोइन्द्रिय पोषक, रसीला आहार है तो ऐसे आहार वहराने से जीव अल्पायु बांधता है। वह सूत्र पाठ निम्नलिखित है—

'तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेन्ति तं-

पाणेऽतिवाइत्ता भवति, मुसेवइत्ता भवति तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जं असन-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभित्ता भवति'। (स्था. अ. ३ उ. १)।

भावार्थ—हिंसा करके, झूठ बोल करके, तथा रूप श्रमण (उत्तरगुणी), माहन (मूलगुणी), सर्वविरति को अप्रासुक अनेषणीय आहार से लाभवन्त करके जीव अल्पायु के रूप में कर्म बांधता है। इनमें पहले दो पद विशेषण हैं और तीसरा पद विशेष्य है। इन तीनों को मिला देने से तीसरे स्थान की पूर्ति हुई। किसी व्यक्ति ने बिना ही कारण साधु के निमित्त छहकाय की विराधना करके आहार बनाकर तैयार किया और सर्व विरति के पूछने पर जवाब देता है कि भगवन्! यह आहार हमने अपने लिए ही बनाया है, आप के लिए नहीं। अतः यह आहार निर्दोष होने से आपके ग्राह्य है। हम आपकी वृत्ति को भली भान्ति जानते हैं हमारे ऊपर विश्वास कीजिए और आप निःशंक रहिए, अमुक-अमुक सभी साधु साध्वी लेते रहे हैं। इस प्रकार झूठ बोल कर अप्रासुक सदोष आहार बहराने से जीव अल्पायु बान्धता है।

ऐसा करने से एक तो छःकाय की हिंसा होती है; दूसरा गुरु के समक्ष झूठ बोल कर पाप कमाता है तीसरी सर्वविरति की वृत्ति को दूषित करता हुआ पाप कमाता है। ये तीनों दोष मिलकर अल्पायु बांधने के कारण बन जाते हैं। श्रमणोपासक की धर्म क्रिया हिंसा और असत्य से व्याप्त नहीं होनी चाहिए, बल्कि अहिंसा और सत्य से व्याप्त होनी चाहिए। जो श्रद्धेय गुरु के समक्ष भी असत्य बोलने से संकोच नहीं करता, वह अन्य लोगों के सामने क्या सत्य बोलता होगा?

गुरु के सामने झूठ बोलना भी मोटा झूट है। कूठ साक्षी हैं। वस्तुतः यह पाठ सामान्य है, सब के लिए लागू होता है।

जैसे अन्य सात कर्मों का वन्ध समय-समय में होता रहता है, वैसे आयु कर्म का वन्ध समय-समय में नहीं होता। वर्त्तमान कालिक जीवन में परभव की आयु एक ही वार बांधी जा सकती है। तथारूप श्रमण माहन को सदोष आहार वहराते समय यदि आयु कर्म का वन्ध पड़ जाए, तो अल्पायु का ही वन्ध होता है। वहराते समय दाता की भावना श्रद्धा से ओतप्रोत होती है, उस समय आयु का वन्ध शुभ ही हो सकता है, अशुभ नहीं। शुभ रूप में अल्पायु का वन्ध हो जाना भी जीव के लिए अहित कर है, एवं अशुभ दीर्घ आयु जो कि दुःख रूप है, वह भी जीव के लिए अहितकर ही है। भक्तिपूर्वक अप्रासुक अनेषणीय आहार वहराने से शुभ तथा अल्पायु का वन्ध होता है और भक्ति पूर्वक प्रासुक एषणीय आहार वहराने से दीर्घ शुभायु का वन्ध होता है।

प्रस्तुत सूत्र इसी विशेषता को सिद्ध करता है कि—

जो श्रीसंघ के संरक्षक एवं स्तम्भ हैं, जिनके स्वस्थ होने से धर्मोद्योत-प्रवचन प्रभावना अधिक हो सकती है, जिनका जीवन संघ सेवा में ही व्यतीत हो रहा है, जिनको ओर श्री संघ की श्रेष्ठ नजर पड़ रही है, जिन पर बड़ी-बड़ी शुभ आशाएं वांधी जा रही हैं, जिनका जीवन आमूल चूल प्रामाणिकता से व्यतीत हो रहा है, जिनके जीवन का प्रत्येक क्षण संघ के लिए हितकर है। जिनका जीवन संघ के लिए एक आदर्श बना

हुआ है, ऐसे आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, क्रियापात्र, नवदीक्षित, श्रमणमाहन, जब अत्यक्लान्त हों, रोगग्रस्त हों, या वार्द्धक्य पीडित हों, भूख प्यास से खिन्न हों, तब उन्हें आर्त तथा रौद्रध्यान से बचाने के लिए, संयम में स्थिर एवं दृढ़ता लाने के लिए, प्राणभय से मुक्त करने के लिए, एवं भूख प्यास तथा रोग आदि असाता निवारण करने के लिए समय की अल्पता होने से यदि श्रमणोपासक अप्रासुक अनेषणीय आहार बहराता है, तो वह महा निर्जरा करता है। इससे संयमी के संयम में दोष अवश्य लगता है, और सदोष आहार बहराने से श्रमणोपासक का अपना भी अहित है, परन्तु वह अहित महा-निर्जरा की अपेक्षा अल्पतर ही है। ऐसे समय में स्वस्थ होने पर लेने वाले को भी पश्चात्ताप होता है और सदोष आहार देने वाले को भी। उस समय की विवशता को दृष्टिगोचर रखते हुए पीछे से दोनों ही निन्दना, गर्हणा, आलोचणा, तपकर्म के रूप में प्रायश्चित ग्रहण करते हैं। श्रमणोपासक भी बहराए हुए सदोष आहार को दोष ही समझता है।

जो बिना ही कारण सदोष आहार बहराता है, या ग्रहण करने वाला ग्रहण करता है, वे दोनों कभी भी प्रायश्चित नहीं लेते। भूल नहीं मानते, दोष को दोष नहीं समझते यही दोनों का अन्तर है।

१. विवशता से दोष लगाना अपवाद मार्ग है।

२. विवशता के बिना ही दोष लगाना, स्वच्छन्दता है।

३. विवशता की परिस्थिति में भी दोष न लगाना उत्सर्ग मार्ग है। उपर्युक्त तीनों बातें सर्वविरति में भी पाई जाती हैं और देशविरति में भी। अब लीजिए तीसरे पाठ की व्याख्या।

प्रश्न "समणोवासगस्स णं भंते! तहारूवं असंजय—अविरय-

अपडिहय—अपच्चक्खाय पावकम्मं फासुएणं वा अफासुएणं वा, एसणिज्जेणं वा अणेसणिज्जेणं वा असणं जाव किं कज्जइ?

उत्तर—गोयमा! एगंत से पावेकम्मे कज्जइ, नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ।" (भगवती सू० श० ८ उ० ६)

अर्थ—

प्रश्न—भगवन्! तथारूप-असंयत (जो संयमी नहीं है) अविरत (जो अव्रती है) अपडिहय (जिसने वर्त्तमान के पाप कर्म को रोका नहीं है) अपच्चक्खाय पावकम्मं (जिसने अनागत काल में होने वाले पाप कर्म को छोड़ा नहीं) ऐसे वेषधारी श्रमणाभास तथा माहनाभास् धर्मगुरु को प्रासुक या अप्रासुक एवं सदोष या निर्दोष अशन पान आदि चार प्रकार का आहार वहराने से श्रमणोपासक को क्या फल मिलता है?

उत्तर—गौतम! वह वहराता हुआ एकांत पापकर्म का उपार्जन करता है, निर्जरा बिल्कुल नहीं करता। वह तो पाप का ही भागी बनता है।

अब हमने भगवान् के दिए हुए उत्तर को तटस्थ होकर गहराई से उनके तात्पर्य को विचारना है।

असंयत अविरत आदि को देनेसे श्रमणोपासक एकान्त पाप कर्म का ही भागी बनता है, यदि ऐसा ही माने तो इससे सिद्धांत में बहुत ही बाधाएं आ जातीं हैं। अनुकम्पा-दान का तो कोई महत्व ही नहीं रहा और यह मानना होगा कि राजा प्रदेशी ने एक बहुत बड़ी दानशाला खोल कर इस पाठ का उल्लंघन किया है। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। श्रावक के घर में गाय, भैंस, पशु, पक्षी, नौकर, चाकर, मित्र, सम्बन्धी, माता, पिता, परिजन,

परिवार, हीन, दीन, अनाथ, ये प्रायः असंयत अविरत होते हैं। इनको देने से भी यदि श्रावक एकांत पाप का भागी बनता है ? ऐसा समझ कर यदि उन्हें भोजन पानी नहीं देता, तो 'भक्तपान व्यवच्छेद' नामक अतिचार से वह अपने पहले अणुव्रत को दूषित करता है। क्योंकि उन्हें भक्त पान देने से 'एकांत पाप' लगता है और न देने से व्रत दूषित होता है'। इन दोनों में पाप का अल्प बहुत्व किस में है?

समाधान वस्तुतः शास्त्रकार का आशय बहुत ही गम्भीर है। उनका अभिप्राय यह है कि अनुकम्पा बुद्धि से देने में कहीं सिद्धांत को ठेस नहीं पहुँचती। अनुकम्पा-दान के लिए भगवान ने कहीं भी श्रमणोपासक को निषेध नहीं किया। अनुकम्पा दान से समकित दूषित नहीं, बल्कि पुष्ट होती है। क्योंकि अनुकम्पा सम्यक्त्व का सहभावी गुण है। अनुकम्पाहीन व्यक्ति में सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

दया बुद्धि से दान देते समय करुणा पात्र पर श्रद्धा नहीं होती, बल्कि दया होती है। दया भाव पैदा होने पर यह किस वर्ण का है ? किस जाति का है ? किस कुल का है ? इसका क्या पेशा है ? किस संप्रदाय का है ?' इस प्रकार न पूछा जाता है, न देखा जाता है, और न श्रद्धान्वित होकर कोई नतमस्तक ही होता है। जो दीन दुःखी आदि दया पात्र को कुछ देता है, सेवा करता है, वह वस्तुतः अपने में पैदा हुई दया का इलाज करता है। उस व्यक्ति और द्विपद चतुष्पद परिग्रह का अन्तर्भाव इस पाठ में न हो जाए, इसलिए शास्त्रकारों ने 'तहारुवं' (तथारूप) का निर्देश दिया है। इससे उपर्युक्त पाठ का अर्थ भी तदनुसार ही होगा। इसके सिवाय 'पडिलाभेमाणे' शब्द ने मूल के आशय को विशेष रूप से

स्पष्ट कर दिया है। इससे भगवान् का आशय बिल्कुल निखर कर हमारे बुद्धिगम्य हो गया है।

जो साधुवेष में उन्मार्ग के प्रवर्तक हैं, जो अपनी मान प्रतिष्ठा के लिए पाखंड रचाने वाले हैं, जो कनक कामिनी के दास बने हुए है। जो तत्वज्ञान से तथा आत्मज्ञान से शून्य होते हुए 'बालतप' करते हैं। जो आरंभ परिग्रह के दलदल में फंसे हुए हैं। जिन का साधु वेष, विश्वस्त नहीं है। जो अग्नि की तरह सर्व-भक्षी हैं, जो जादू, टोना, टामन, यंत्र, मंत्र, तंत्र आदि का चमत्कार दिखा कर जनता को अपने अनुयायी बनाने वाले हैं। जिनका अमूल्य समय विकथाओं में ही व्यतीत होता है। जिनका वैराग्य-रंग परवंचनाय है, धर्मोपदेश जनरंजनाय है, विद्याध्ययन विवादाय है। जो साधु वृत्ति से कोसों दूर हैं, जो जर जोरू जमीन के त्यागी नहीं, बल्कि स्वामी बने हुए हैं। जो धर्मवेष में 'बिडालवत्' 'बकवत्' धूर्त हैं, जो अपने आप को धर्म का ठेकेदार समझते हैं, इस प्रकार जो अपने आपको त्यागी महात्मा तथा साधु समझते हैं, उन्हें तथारूप असंयत अविरत कहते हैं। असाधु को साधु समझना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व को ही एकांत पाप कहते हैं, क्योंकि जैनागमों में १८ प्रकार के पाप बतलाए हैं, उनमें १८वां पाप मिथ्यादर्शन शल्य है यही सभी पापोंका मूल एवं पोषकहै। यही सभी बुराइयों और अवगुणोंका धाम है। यही सभी दुःखों का मूलकारण है, क्योंकि जहां मिथ्यात्व है, वहां नियमेन सभी पापों का समावेश हो जाता है। अतः उस एकान्त पाप से बचने के लिए तथा सावधान करने के लिए भगवान् ने कहा कि श्रमणोपासक को ऐसे समय में सतर्क रहना चाहिए। इस विषय को समझने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त है।

जैसे कि 'सद्दालपुत्त' श्रमणोपासक ने 'मंखलिपुत्र गोशालक' को कहा था कि तूने सत्य एवं यथार्थ दृष्टांतों से मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान महावीर का गुणकीर्तन किया है, इस दृष्टि से मैं तुझे वापिस करने वाली वस्तुएं जैसे कि—मकान, बिछौना, पट्टा, चौकी वगैरा ग्रहण करने के लिए निमन्त्रण करता हूं। मेरी आज्ञा है तू उन्हें आवश्यकता के अनुसार अपने काम में ले सकता है। परन्तु तुझे देने से धर्म और तप का लाभ होगा—ऐसा समझ कर मैं निमन्त्रण नहीं कर रहा हूं (यहां धर्म और तप से तात्पर्य संवर निर्जरा से है) इससे यह सिद्ध होता है कि यदि कोई तथारूप असंयत अविरत है, वह गोशालक की भांति चाहे पूर्वगुरु ही क्यों न हो, श्रद्धायुक्त होकर धर्म एवं तप समझ कर उसे प्रासुक निर्दोष देय वस्तु को बहरावे तो श्रमणोपासक एकांत पाप (मिथ्यात्व) का भागी बन जाता है। क्योंकि—उसकी श्रद्धा सम्यक् न होने से मिथ्या है।

पडिलाभेमाणे शब्द की व्याख्या—

आगमों में जहां कहीं 'करुणाभाव से' दिया जाता है, वहां 'दलयमाणे' पाठ आता है। जहां श्रद्धाभाव से दिया जाता है, वहां "पडिलाभेमाणे" ऐसा पाठ आता है।

अब देखना यह है कि जो श्रमणोपासक का श्रद्धेय है, वह संयत-विरत प्रत्याख्यानी है या असंयत अविरत-अप्रत्याख्यानी है। यदि वह श्रद्धेय है, तो वह पहले पक्ष में है, फिर तो उसकी श्रद्धा सम्यक होने से उपादेय है और वह आत्मतत्त्व की ही पोषिका है। शुद्ध श्रद्धेय के उद्देश्य से विवेकपूर्वक जो कुछ भी श्रमणोपासक करता है वह निर्जरा का कारण बन जाता है। उस निर्जरा से कल्याण की परंपरा बन जाती है।

यदि तथारूप असंयत आदि को श्रमणोपासक ने अपना श्रद्धेय बना रक्खा हो, तो वह श्रद्धा असम्यक् होने से हेय तथा त्याज्य है। क्योंकि अशुद्ध श्रद्धा को ही मिथ्यात्व कहते हैं। जब तथारूप असंयत अविरत को गुरु एवं धर्म बुद्धि से निर्जरा तथा मोक्ष रूपी महाफल के उद्देश्य से दिया जाता है, तब वह भाव मिथ्यात्व से ओतप्रोत होने से एकांतपाप रूप है। क्योंकि श्रद्धेय को देते समय ही 'पडिलाभेमाणे' शब्द का प्रयोग किया जाता है न कि अनुकंपा दान देते समय।

आज कल भी श्रावक आत्मार्थी मुनिराज को आहार देते हुए 'वहराने' का प्रयोग करते हैं, परन्तु इतरजनों को देते हुए वहराने का कोई भी प्रयोग नहीं करता। जिस को देने से बदले में महालाभ हो, उसे 'पडिलाभेमाणे' कहते हैं। यद्यपि तीसरे पाठ में 'जाव' कहकर पाठ संकुचित किया है, 'पडिलाभेमाणे' शब्द नहीं दिया, तदपि पहले पाठ से उसकी अनुवृत्ति लेनी चाहिए। यदि 'तहारूवं' और पडिलाभेमाणे' ये दो शब्द मूल सूत्र में न दिये होते, तो प्रस्तुत का अर्थ वही होता, जो भिखमजी ने किया है। उन्होंने तहारूव और पडिलाभेमाणे इन दोनों शब्दों का महत्व नहीं समझा, और न उनके मस्तिक में यह कभी ध्यान ही आया कि ये दो शब्द क्या महत्त्व रखते है। छद्मस्थ होने से भूल हो सकती है, किन्तु की हुई उस भूल को सिद्धांत नहीं समझना चाहिए। बल्कि गलत धारणाओं को बदल देना चाहिए।

श्रावक वृत्ति का आमूलचूल वर्णन

"से जहानामए समणोवासगा भवंति-अभिगय-जीवाजीवा, उवलद्ध-पुण्णपावा, आसव-संवर-वेयणा-निज्जरा-किरिया- अहिगरण-बन्ध-मोक्ख-कुसला, असहेज्ज-देवासुर-नाग-सुवण्ण-जक्ख-

रक्खस किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गन्थाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा । इणमेव निग्गन्थे पावयणे-निस्संकिया-निक्कंखिया निव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अभिगयट्ठा अट्ठि मिज-पेमाणुरागरत्ता ।

"अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे । ऊसिय फलिहा, अवंगुयदुवारा अचियत्तंतेउर-परघर-पवेसा । चाउ-द्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणु-पालेमाणा समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह-कम्बल पायपुछणेणं ओसह-भेसज्जेणं पीठ-फलग-सेज्जा संथारएणं पडिलाभेमाणे, बहूहिं सील-वय-गुण वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरन्ति ।

ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासग परियायं पाउणंति पाउणित्ता, आबाहंसि उप्पन्नंसि वा, अणुप्पन्नंसि वा, बहूइं भत्ताइं अणसणाए पच्चक्खायंति बहूइं भत्ताइं अणसणाए पच्चक्खाएत्ता, बहुइं भत्ताइं अणसणाए छेदेन्ति, बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेइत्ता आलोइय-पडिक्कंता समाहि-पत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति, तं जहा—महड्डिएसु महज्जु-इएसु जाव महासोक्खेसु सेसं तहेव जाव एस ठाणे आरिए जाव एगंतसम्मे साहू । तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एव-माहिए । अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जइ, विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ । विरयाविरइं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ ।

तत्थ णं जा सा सव्वतो अविरई एस ठाणे आरंभट्ठाणे अणारिए जाव असव्व-दुक्ख-पहीण मग्गे एगंत मिच्छे असाहू ।

तत्थ णं जा सा सव्वओ विरई एस ठाणे अणारंभट्ठाणे आरिए जाव सव्व-दुक्ख-पहीण-मग्गे एगंत, सम्मे साहू।

तत्थ णं जा सा सव्वओ विरयाविरई एस ठाणे आरम्भ-नोआरम्भट्ठाणे, एस ठाणे आरिए जाव सव्व-दुक्ख प्पहीण-मग्गे एगंतसम्मे साहू। (सूयगडांग सूत्र श्रुतस्कन्ध २, अ० २)

देश विरति को मिश्रस्थान कहते हैं क्योंकि विश्व में जितने प्राणी हैं वे सब तीन भागों में विभक्त हैं। उनमें एक वे हैं जो पापों से सर्वथा विरक्त हैं। दूसरे वे हैं जो पापों में सर्वथा सने हुए हैं, लिप्त हैं, और आसक्त हैं। तीसरे वर्ग के प्राणी वे हैं जो न सर्वथा पापों में आसक्त ही हैं और न सर्वथा विरक्त ही।

जो अपने से नीचे की भूमिका में रहना स्वप्न में भी नहीं चाहता और ऊपर की मंजिल में पहुंचने के लिए अपने में शक्ति नहीं पाता, ऐसा साधक ही देशविरति श्रमणोपासक कहलाता है। ऐसी विरति को मिश्रस्थान भी कहते हैं। उसके लक्षण निम्नलिखित हैं—

जो जीव अजीव के स्वरूप को भलीभांति जानते हैं, जिन्होंने पुण्य और पाप के स्वरूप को जान लिया है। जो कि संसार के हेतु बन्ध और आश्रव को एवं मोक्ष के हेतु संवर को सम्यक् प्रकार से समझ गये हैं, जो बद्ध कर्मों का परिणाम (वेदना,) कर्मों का आंशिक क्षय, (निर्जरा) जीव अजीव की २५ प्रकार की क्रिया, १०८ प्रकार का अधिकरण (आश्रव का कारण) १४८ कर्म प्रकृतियों का बन्ध और उन से सर्वथा मुक्त होना मोक्ष इत्यादि तत्वों के ज्ञाता होते हैं।

जो देव, असुर, नागकुमार, सुवर्णकुमार, यक्ष राक्षस, किन्नर,

किंपुरुष, गंधर्व, गरुड़, महोरग आदि के (रुष्ट होने पर) किसी भी लौकिक कार्य के लिए सहायता नहीं चाहते और न उनके रुष्ट होने पर वे निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित होते हैं।

वे श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन में शंकारहित तथा केवलिभाषित धर्म से "विपरीत दर्शन" की आकांक्षा रहित होते हैं। जो कुकर्म करने से डरते हैं, परन्तु कर्म फल से नहीं डरते। जिन-शासन के अनुकूल किए हुए आचरण पर जिन्हें दृढ़ निश्चय है।

जो कि सूत्रार्थ के ज्ञाता हैं, सुने हुए, ग्रहण किए हुए, गुरु से पूछे हुए, समाधान को हृदयंगम किए हुए हैं; जो अच्छी तरह समझे हुए हैं, जिन की हड्डी मज्जा भी जिन धर्म के अनुराग से अनुरंजित है, जिनका रोम रोम यही पुकार रहा है कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है। यही परमार्थ है। इसके अतिरिक्त शेष सभी अनर्थ रूप है।

वे विशाल एवं निर्मल मन वाले होते हैं। क्योंकि उनका मन अनन्तानुबंधी तथा अप्रत्याख्यानी कषाय—चतुष्कजन्य मल से सर्वथा रहित होता है।

उनके द्वार दान के लिए सर्वत्र सर्वदा खुले रहते हैं, उनमें कंजूसी नहीं होती। जो कि सभी भिक्षाचरों के लिए अनुकम्पा भाव से या प्रवचन प्रभावना के उद्देश्य से अपने घर के द्वार खुले रखते हैं। संभव है कभी न कभी उनके घर संयमी तपस्वी आत्मार्थी श्रमण जोकि सर्वोत्तम पात्र हैं, उनका पधारना हो सके। अन्यथा बन्द दरवाजे को देखकर वे वापिस लौट जाते हैं, क्योंकि वे किसी के बन्द किवाड़ नहीं खटखटाते। वास्तव में उन्हीं को १४ प्रकार का दान देना धर्मदान कहा है, क्योंकि

जिस दान से धर्मका, संयम का, चारित्र का पोषण हो तथ. वृद्धि हो, वही धर्मदान है। धर्मदान का स्वर्ण अवसर तभी प्राप्त हो सकता है जब कि उदार चित्त होने से दिन के चारों पहर दान के लिए द्वार खुले रखे। किवाड़ खुले रखने से भिक्षाचरों को भी बिना दिए लौटने न दे। इससे सिद्ध होता है कि उन में कृपणता नहीं होती बल्कि चित्त में उदारता होती है।

वे राजा के अन्त:पुर के समान दूसरे के घर में प्रवेश करना अच्छा नहीं समझते। अर्थात् जैसे कोई सर्वसाधारण व्यक्ति, राजा के अन्तःपुर में प्रवेश नहीं कर सकता, वैसे ही वे अन्य किसी अप्रतीत कारी घरों में नहीं जाते। इससे सदाचार सुरक्षित रहता है, और दूसरों को शंका नहीं होती, अपनी प्रामाणिकता सुरक्षित रहती है।

वे चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी को प्रतिपूर्ण पोषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए—एवं श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक एषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंच्छन, औषध, भेषज्य, पीठ, फलक, शय्या, तृण आदि देते हुए तथा अपनी शक्ति के अनुसार ग्रहण किए हुए शीलव्रत, गुणव्रत, त्याग प्रत्याख्यान, पौषध-उपवास आदि के द्वारा अपनी आत्मा को पवित्र करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। वे इस प्रकार आचरण करते हुए, बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक की पर्याय का पालन करते हैं, और जब उनके शरीर में देहनाशक रोग या आतंक उत्पन्न हो जाता है या प्राणनाशक उपसर्ग का कारण उपस्थित हो जाता है या किसी निमित्त से अपनी मृत्यु का समय नजदीक जान लेते हैं, तब स्वस्थ होने पर भी अपश्चिम—मारणान्तिक

संलेखना (संथारा) का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। वे बहुत लम्बे समय का अनशन करके भी संथारे को पूर्ण करते हैं।

वे संथारे को पूर्ण करके अपने पाप की आलोचना तथा प्रतिक्रमण करके, समाधि में चित्त स्थिर करके इस प्रकार वे काल के अवसर पर मृत्यु को प्राप्त कर विशिष्ट देवलोक में देवता के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे देवता महाऋद्धि वाले, महाद्युति वाले, महासुख वाले एवं दीर्घ-स्थिति वाले होते हैं।

यह स्थान भी एकान्त सम्यक्, आर्य तथा सर्वोत्तम है। तृतीय स्थान जो मिश्र स्थान है, उस की रूप रेखा उपर्युक्त प्रकार से कही गई है।

इस मिश्र स्थान के स्वामी अविरति की अपेक्षा से बाल, और विरति की अपेक्षा से पंडित होते हैं। अविरति और विरति दोनों की अपेक्षा से 'बालपण्डित' कहलाते हैं।

इनमें जो स्थान सभी पापों से निवृत्त न होने रूप है, वह आरम्भ स्थान है। अनार्य है, वह मार्ग, समस्त दुःखों के नाश का नहीं है। वह एकान्त मिथ्या एवं निकृष्ट है।

दूसरा स्थान-जो कि सर्व पापों से सर्वथा निवृत्ति रूप है, वह अनारंभ स्थान होने से आर्य है तथा समस्त दुःखों के नाश करने वाला मार्ग है। वह एकान्त सम्यक् है और सर्वोत्तम है।

तथा तीसरा स्थान वह है जो कि कुछ पापों से निवृत्ति और कुछ से अनिवृत्ति रूप है, जिसे संयमासंयमी, चारित्रा-चारित्री, विरताविरति, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी भी कहते हैं। वह आरंभ और अनारंभ स्थान कहलाता है। यह भी आर्य

तथा समस्त दुःखों का नाशक है। एकान्त सम्यक् और उत्तम हैं†।

श्रमणोपासकों के चार भेद

कर्म, प्रकृति, गुण, स्वभाव आदि भेदों से श्रमणोपासकों के भी चार भेद हो जाते हैं‡। 'संयमासंयमत्व' धर्म तो चारों में ही विद्यमान है, फिर भी श्रमण भगवान् महावीर ने चार जड़ उपमाओं से उन्हें उपमित किया है। गुण, कर्म, प्रकृति, स्वभाव जिसमें जैसे भी हों, उनके लिए वैसी ही उपमा दी है, जैसे कि—

१. आदर्श के समान

१. जैसे दर्पण के समक्ष जो भी पदार्थ होते हैं. वे सब प्रतिबिंबित हो जाते हैं। यह बात अलग है कि उसमें समीपस्थ पदार्थों का प्रतिबिंब स्पष्ट दिखाई देता है और दूरस्थ पदार्थों का प्रतिबिंब अस्पष्ट होता है।

इसी प्रकार श्रमणोपासक, श्रमण निर्ग्रन्थों के समक्ष बैठ कर जब शिक्षाएं, उपदेश, जिनवाणी या संतवाणी सुनते हैं। तब पदार्थों का ज्ञान उनके मस्तिष्क में प्रतिबिंबित हो जाता है, किन्तु अधिक सूक्ष्म तत्त्वों को स्पष्टतया नहीं जानते। वे अदृष्ट-

---

† जब श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमणोपासक धर्म को आर्य, समस्त दुःखों का नाशक, एकान्त सम्यक् और उत्तम कहा है, तब श्रमणोपासक को कुपात्र कहना अयुक्त है। यह श्रमणोपासक की आशातना है।

‡ चत्तारि समणोवासगा प० तं० अद्दाग समाणे, पडाग समाणे, खाणु समाणे खरकंट समाणे। (स्थानांग सू० अ० ४ उ० ३)

अश्रुत-अननुभूत-अज्ञात तत्त्वों को श्रद्धा से अपनाते हैं। वे श्रावक दर्पण के समान होते हैं।

२ अथवा जिनमें देव, गुरु, धर्म, सत्य की कसौटी से ठीक उतरे हुए हैं, मस्तिष्क में स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित हो रहे हैं। वे भी दर्पण के समान होते हैं।

३. अथवा जो केवल अपने ही अवगुण देखते हैं, दूसरों के नहीं, वे भी दर्पण के तुल्य होते हैं।

४. अथवा जैसे दर्पण में पर्वत प्रतिबिंबित होने से दर्पण भारी नहीं बनता, समुद्र प्रतिबिंबित होने से दर्पण गीला नहीं होता, वैसे ही जो श्रमणोपासक दुःख और सुख में, सम्पत्ति और विपत्ति में, लाभ और हानि में, समान ही रहते हैं, मन में विषमता नहीं लाते, वे श्रावक दर्पण तुल्य होते हैं।

५. अथवा जैसे दर्पण में अच्छे और बुरे पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं, फिर भी वह विकारी नहीं होता, इसी प्रकार जो इन्द्रियों से इष्ट अनिष्ट पदार्थों को ग्रहण करते हैं, फिर भी विकारी नहीं होते, वे श्रमणोपासक दर्पण के तुल्य कहलाते हैं।

६. अथवा जिनका जीवन ही आदर्शमय हो चुका है वे भी आदर्श-(दर्पण) के समान होते हैं।

७. जो एकान्त चारित्री तो नहीं, परन्तु चारित्री सदृश है, श्रमण तो नहीं, श्रमण सदृश हैं। ऐसे श्रमणोपासक भी आदर्श के समान होते हैं।

२. पताका के समान

दूसरे प्रकार के श्रमणोपासक पताका के समान होते हैं। पताका में अस्थिरता, शोभनता, विजयता, आकर्षणता आदि अनेक विशेषताएँ होती हैं।

१. जैसे—जिस दिशा की वायु चलती है, पताका उसी दिशा में फहराने लगती है। यह उसमें अस्थिरता है। इसी प्रकार जिनकी श्रद्धा, वृत्ति, भावना वदलती ही रहती है। वे जैसी-जैसी देशना सुनते हैं, या अध्ययन करते हैं, वैसी-वैसी उनकी मनोवृत्ति वदलती रहती है। कभी उच्चक्रिया करते-करते बिल्कुल साधारण क्रिया को ही सर्वोत्तम समझने लग जाते हैं, कभी गृहस्थ धर्म को ही सर्वस्व मानने लगते हैं, कभी मिथ्या दृष्टियों की क्रिया को ही स्तुत्य समझने लग जाते हैं।

यह मन की चंचलता का परिणाम है।

अथवा-आचार वा विचार भेद से चतुर्विध संघ की अनेक शाखाएं प्रशाखाएं वर्त्तमान में दीखती हैं। अस्थिर मन और बुद्धिवाले श्रावक, जिस संप्रदाय की देशना सुनते हैं, वस उस समय उसी विचार तथा आचार को सर्वोत्तम समझने लग जाते हैं। जव फिर अन्य की वात सुनते हैं, तव पहले के सुने हुए को गलत ठहराते हैं, और अभी का सुना हुआ श्रेष्ठ कहते हैं। वस इसी अस्थिरता के कारण श्रावक को पताका के समान कहा है।

२. पताका में सजावट का गुण भी होता है। जहां पताकाएँ फरकती हैं, वह स्थान वहुत ही सुन्दर प्रतीत होता है, पताकाओं के फहराने से मकान, मार्ग तथा पंडाल की सजावट वढ़ जाती है। इसी प्रकार जिन श्रावकों से चतुर्विध श्रीसंघ की महिमा वढ़े, गौरव से मस्तक उन्नत हो, अन्य धर्मी लोगों में श्रीसंघ की प्रतिष्ठा वढ़े, जैनेतर जनता भी श्रीसंघ की मुक्त कंठ से सराहना करे, ऐसे श्रमणोपासक पताका के समान होते हैं।

३. जैसे पताका का फरकना विजय का चिह्न है। जो

विजयी होता है उसी के यहाँ विजयपताका फरकती है। इसी प्रकार जो अपनी विद्वत्ता तथा बुद्धि कौशलता से बड़े-बड़े दिग्विजयी वादियों को शास्त्रार्थ में पराजय करके श्रमणसंघ की महत्ता बढ़ाते हैं, वे श्रमणोपासक भी पताका के तुल्य होते हैं, ऐसे श्रावकों से श्रीसंघ सर्वदा विजयी ही रहता है। जैसे कुण्डकौलिक श्रमणोपासक ने मिथ्यादृष्टि देवता को पराजित करके विजय-पताका फहराई। अतः वे पताका के तुल्य हुए हैं।

४. पताका में आकर्षणता भी होती है। फरकती हुई पताकाओं को देखकर सर्व साधारण लोग खींचे चले आते हैं, वैसे ही जिनके जीवन में आकर्षण है, जिनके दर्शन करने के लिए दूर-दूर से देशी विदेशी लोग आते हैं, ऐसे श्रमणोपासकों का जीवन आकर्षणमय होने से पताका के समान होता है।

३. स्थाणु के समान श्रमणोपासक

स्थाणु-खंभे में अनेक गुण तथा अवगुण होते हैं।

१. खंभे में स्थिरता होती है। वह अनेक बार आंधी तूफान आजाने पर भी धराशायी नहीं होता, हिलाने पर हिलता नहीं, वैसे ही जो अनेकों बार परिषह उपसर्ग हो जाने पर भी निर्ग्रन्थ धर्म से विचलित नहीं होते, वे श्रमणोपासक स्थाणु के समान होते हैं।

२. जैसे भवन, मकान या प्रासाद आदि का आधार होता है, वैसे ही जो श्रमणोपासक श्रीसंघ के लिए या जनता के लिए आधारभूत बने हुए हैं, दूसरों को आश्रय देने वाले हैं, वे श्रावक स्थाणु के समान होते हैं।

३. स्थाणु—'ठूंठ' को भी कहते हैं, जैसे ठूंठ जनता के के लिए विशेष लाभदायक नहीं होता, और न उस में कोई फूल लगते हैं, न फ़ल, न पत्तों से आश्रितजनों की धूप, वर्षा, ओले आदि से रक्षा ही करता, और न छाया ही देता है, बल्कि भय-प्रद होने से अखरता ही है। इसी प्रकार जो श्रमणोपासक चतुर्विध श्री संघ या इतर जनता के काम नहीं आते, जो आप ही बाह्य वैभव आदि से हीन हैं, जो तन मन धन से प्रवचन प्रभावना नहीं करते, दूसरे को कुछ भी सहारा नहीं देते, बल्कि गाली गलौज से, निन्दा से, नुकताचीनी से श्रीसंघ के लिए भयप्रद बने हुए हैं, वे श्रमणोपासक स्थाणु-ठूंठ के समान होते हैं, क्योंकि विशिष्ट अवगुणों से उसके गुण, अवच्छन्न होजाने से लोग उसे ढोंगी समझते हैं।

४. अस्थान में स्तम्भ या ठूंठ जैसे शोभा नहीं पाता, वह हिलाने से हिलता भी नहीं है, वैसे ही जो श्रमणोपासक, अपनी गलत धारणाओं पर ही दृढ़ रहते हैं, जिन्हें अपनी बात पर ही मोह है, फिर चाहे कितने ही आगमों के पारगामी, उग्रविहारी श्रमण निर्ग्रन्थों की पतित पावनी अमृतधारा तुल्य धर्म-देशना सुन लें फिर भी जो अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ते, वे ठूंठ के समान होते हैं।

'स्थाणु' शंकर को भी कहते हैं, पर उसका प्राकृत में खाणु नहीं बनता, अतः वह अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं है।

४. खर कंटक समान

१. जैसे कठोर कांटा फंसे हुए वस्त्र को फाड़ता है, और साथ ही छुड़ाने वाले पुरुष के हाथों में चुभ कर उसे दुःखित करता है, वैसे ही जो श्रमणोपासक, समझाने वाले को भी

कठोर वचनों से दुःखित करते हैं, जिनके वचन ही तीक्ष्ण काँटे हैं, वे कभी-कभी दूसरों के पर्दे फाश कर देते हैं। वे खर-कंटक के समान होते हैं।

२. जैसे कठोर कांटों से लगी हुई बाड़ से खेती की रक्षा होती है, खेती नष्ट करने वालों का प्रवेश नहीं हो सकता, वैसे ही जो श्रमणोपासक चतुर्विध श्रीसंघ पर होने वाले मिथ्यादृष्टियों के आक्रमण को रोकते हैं, चतुर्विध श्रीसंघ को किसी भी प्रकार से हानि नहीं पहुँचाने देते, वे भी खर-कंटक के समान होते हैं।

३. जैसे कठोर और तीक्ष्ण कांटा, चुभे हुए दूसरे काँटों को भी निकाल देता है, उसी प्रकार जो श्रमणोपासक दूसरों के माया शल्य, निदान शल्य, तथा मिथ्यादर्शन शल्य निकालते हैं, इस कारण से भी वे खरकंटक समान होते हैं।

४. जैसे यतन शील को कांटा नहीं चुभता अयतन शील को ही कांटा बुरी तरह चुभता है, उसी प्रकार कई एक श्रमणोपासक, उग्रविहारी साधुओं के लिए नहीं, बल्कि शिथिलाचारी श्रमण वर्ग तथा श्रावक वर्ग के लिए वे खरकंटक के समान बने हुए हैं। जो कि कठोर वचन बोलकर ही दूसरे को सावधान कर सकते हैं, मधुरता और नम्रता से नहीं, इस कारण से भी उन्हें खरकंटक की उपमा दी है।

आगमकारों ने जो भी उदाहरण, इतिहास, दृष्टान्त तथा उपमाएं दीं हैं, वे सब जिज्ञासुओं को समझाने के लिए ही हैं। अन्वय दृष्टान्तों से मुमुक्षुओं में गुणों की ओर श्रद्धा, विनय एवं उत्साह बढ़ता है और व्यतिरेक दृष्टान्त से दोषों से दूर रहने के लिए प्रेरणा मिलती हैं। ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है, जो कि अच्छाई तथा बुराई की ओर प्रेरणा नहीं देता हो, फिर चाहे वह दृष्टान्त सचेतन हो या अचेतन। हां इतना अन्तर दोनों में अवश्य है कि अचेतन स्वयं प्रेरणा नहीं देता, वह लेने वाले व्यक्ति के विचारों पर निर्भर है या कहने वाले वक्ता पर ही आधारित है, परन्तु सचेतन तो ज्ञानपूर्वक, इरादे के साथ ही दूसरे को प्रेरणा देते हैं। उसके आशय को यथातथ्य समझना ही चातुर्य और बुद्धिमत्ता है।

जिसके साथ जैसा सांसारिक सम्बन्ध होता है, उसके साथ अपना कर्त्तव्य पालन प्रायः वैसा ही किया जाता है। ऐसा ही प्रायः देखने सुनने और अनुभव में आता है। इसी अपेक्षा से श्रमण भगवान् महावीर ने भी श्रमणोपासकों में चतुर्विध श्रीसंघ के प्रति जैसा व्यवहार, बर्ताव जाना और देखा है, वैसा ही उनके लिए सम्बन्ध (रिश्ता) स्थापित किया है। सभी व्यक्तियों की विचारधारा और साधना एक सरीखी नहीं हो सकती, फिर चाहे वे कुछ भी बन जाएं। अनन्तम शरीरियों की प्रकृति एवं स्वभाव, प्रायः आजीवन ही रहता है, उसमें न्यूनाधिकता तो होती रहती है, परन्तु सर्वथा आमूलचूल परिवर्तन नहीं होता।

जो श्रमणोपासक, श्रमणसंघ के साथ जिस प्रकार का

व्यवहार करता है, उसे उसी सम्बन्ध से अलंकृत किया गया है। जैसे कि—

१. अम्मापिउसमाणे—जैसे माता-पिता अपनी सन्तान का बिना किसी भेद भाव या प्रत्युपकार के पालन-पोषण करते हैं। वैसे ही जो श्रमणोपासक, छोटे बड़े का, या अपने बिगाने का, योग्य अयोग्य का, श्रमणवर्ग तथा श्रावकवर्ग का, बिना किसी भेद भाव के धर्म बुद्धि से चतुर्विध श्रीसंघ की वात्सल्य दृष्टि से, भरण पोषण करते हैं। अपने स्वार्थोपार्जित द्रव्य से उनका हित दृष्टिगोचर रखते हुए सेवा करते हैं, वे श्रमणोपासक माता-पिता के समान होते हैं। अथवा—

जैसे माता पिता, अपना तन मन धन देकर भी अपनी सन्तति की रक्षा करते हैं, वैसे ही जो श्रमणोपासक चतुर्विध श्रीसंघ की आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक उपद्रवों से, कष्टों से, तथा नास्तिक एवं मिथ्यादृष्टियों के अहितपूर्ण आक्रमण से, अपना सर्वस्व बलिदान देकर भी उनकी सर्वतः रक्षा करने का अपना कर्तव्य समझते हैं, और समय आने पर जो अपने कर्तव्य से चूकते नहीं, वे श्रमणोपासक माता-पिता के समान होते हैं। अथवा—

समान होते हैं। जैसे माता पिता, अपने पुत्र पुत्री की रक्षा करते हैं सुशिक्षित बनाते हैं, भोजन वस्त्रादि से भरण पोषण करते हैं, वैसे ही जो श्रमणोपासक, साधु साध्वियों पर पूर्णतया हितभाव रखते हैं, संयम जीवन की रक्षा करते हैं, संयम जीवन को सुदृढ बनाने के लिए प्रत्येक शिक्षाओं से सुशिक्षित करते हैं, वे माता पिता के समान होते हैं।

२. भाइसमाणे—भ्राता अनेक प्रकार के होते हैं सहोदर, ताया और चाचा के लड़के, मौसी के लड़के और मामा के लड़के भी भाई कहलाते हैं। जो हृदय से हितैषी हैं और ऊपर से कुछ कटु हैं, वे भी अपने भाई, बहिन का भरण पोषण, रक्षण, शिक्षण करते हैं। उन्नति के इच्छुक भी होते हैं, परन्तु उनमें कुछ कठोर, कुछ स्वार्थी, कुछ ईर्ष्यालु होते है। अपना कुलमर्यादा से बाहर जाने वालों के समक्ष और आज्ञा भंग करने वालों के समक्ष कठोर बन जाते हैं। कुछ अपने स्वार्थ की पूर्ति के उद्देश्य से भ्रातृभाव दिखाते हैं। कुछ भाई यही चाहते हैं कि यह उन्नति करे अन्यों से आगे बढ़े चढ़े, परन्तु मेरे से नीचे ही रहे-आगे न बढ़े। ऐसी भावना भी पाई जाती है।

इसी प्रकार जो श्रमणोपासक, जीवन सुधारने की दृष्टि से जिन शासन की मर्यादा, चारित्र की मर्यादा, अणुव्रत और महाव्रत की मर्यादा, आज्ञा की मर्यादा इत्यादि किसी भी मर्यादा में रहने वालों का पूर्ण हितैषी है। तत्त्व विचारणा के लिए, आज्ञा को आंशिक रूप से भंग करने वालों के लिए, जो कठोर वचनों का प्रयोग करते हैं। साधु साध्वियों से कभी-कभी अप्रीति होने पर भी शेष प्रयोजनों में अतिशय वत्सलता रखने

वाले, भाई के समान होते हैं। जितना एकान्त हित, लौकिक दृष्टि से माता-पिता को होता है, उतना भाई को नहीं होता।

भाई तब तक अपना भ्रातृभाव दिखाते हैं, जब तक वह अपने स्वार्थ पूर्ति में बाधक नहीं बनता। इसी प्रकार जो श्रमण वर्ग तथा श्रावक वर्ग में से, जब तक कोई लोकोत्तरिकक्रिया में बाधक नहीं बनता, तब तक श्रमणोपासक यत् किंचित् रूप से हितैषी अवश्य होता है, किन्तु बाधक बनने पर कठोरता अपनाते हैं, वे भाई के समान होते हैं।

३. मित्तसमाणे—मित्र में जो गुण दोष होते हैं, वे जिस श्रमणोपासक में पाए जाएं वे श्रमणोपासक भी मित्र के समान होते हैं, जैसे कि—

किसी का बुरा न करना और किसी का भला करना ये मित्र के गुण हैं। इसी प्रकार जो श्रमणोपासक चतुर्विध श्रीसंघ के साथ मैत्री पूर्ण व्यवहार करते हैं, वे मित्र के समान होते हैं वे उत्थान में, उन्नति में, सुख में, दुःख में, लौकिक लाभ में, लोकोत्तरिक लाभ में, धर्म में, तप में, पुण्य में, सद्गति में, परम सहायक होते हैं, वे श्रमणोपासक मित्र के समान होते हैं।

जब कभी दिल में आई, तब सहायक हो जाना, वरना उपेक्षा भाव ही रखना, ऐसे श्रमणोपासक भी मित्र के समान होते हैं। चतुर्विध संघ में जिन से स्वार्थ सधता है, उनकी सेवा भक्ति एवं सहयोग करते रहते हैं, और दूसरों पर उपेक्षा रखते हैं, वे भी मित्र के समान होते हैं।

जो बातों के द्वारा ही दूसरों को सहयोग देते हैं, रचनात्मक कार्य नहीं करते, वे भी मित्र के समान होते हैं।

जो श्री संघ से मान सम्मान पाकर ही सेवाएं बजाते हैं, और उन्नति में सहयोग देते हैं, वे भी मित्र के समान होते है।

४. सवत्ति समाणे—कई एक श्रमणोपासक "सौत" के समान होतेहैं। जो अपने नित्य नियम में अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत में, त्याग तपस्या में, दान पुण्य में, सुदृढ़ हैं, अविचल हैं, इसी प्रकार राजनीति में भी कुशल हैं, परन्तु वे चतुर्विध श्री संघ के साथ सदैव दुर्व्यवहार ही रखते हैं, वे सौत के समान होते हैं।

जो सहधर्मियों के साथ ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य रखते हैं, चिऊंटी के समान सदैव छिद्रान्वेषी बने हुए हैं, जो सहधर्मियों की स्तुति प्रशंसा, सम्मान, पुरस्कार कभी सहन नहीं करते, झूठा कलंक चढ़ाने में संकोच नहीं करते, जो दूसरे का बड़प्पन नहीं देखना चाहते, वे सौत के समान होते हैं।

के समान होते हैं। जो थोड़े रूप में हितचिंतक होते हैं, वे मित्र के समान होते हैं। जो श्री संघ के प्रति किंचित् मात्र भी हितचिंतक नहीं है, प्रत्युत उनकी वृद्धि के बाधक होते हैं, वे श्रमणोपासक सौत के समान होते हैं। इन्हीं अवगुणों के कारण भगवान् को श्रमणोपासक के लिए सौत की उपमा देनी पड़ी। भगवान् वीतराग होने से यथार्थ वक्ता होते हैं, उन्होंने तो संयमरेखा को भंग करने वाले श्रमणों को भी 'पाप श्रमण' कहा है।

श्रमणोपासकों के तीन मनोरथ

"तिहिं ठाणेहिं समणोवासए महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ तं० कया णं अहं अप्पं वा बहुं वा परिग्गहं परिच्च-इस्सामि। कया णं अहं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइस्सामि। कया णं अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा-झूसणा झूसिए, भत्तपाणपडियाइक्खिए, पाओवगए, कालमणव-कंखमाणे विहरिस्सामि। एवं समणसा सवयसा सकायसा जागरमाणे समणोवासए महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ।

(स्थानांग सूत्र अ० ३ उ० ४)

श्रमणोपासक तीन मनोरथों का चिन्तन करता हुआ कर्मों की महानिर्जरा करता है, संसार को परिमित करता है और महत्त्वशाली परिणाम पर पहुँचता है और अन्त में सब दुःखों से मुक्त हो कर अक्षय एवं अव्याबाध मोक्षसुख प्राप्त करता है।

पहला मनोरथ—

कब मैं थोड़ा या बहुत मर्यादित परिग्रह का भी परित्याग करूँगा, वह दिन मेरे लिए परम कल्याण का होगा। क्योंकि

(डिक्शनरी) में परित्याग का अर्थ 'दान' भी किया है। शासनोन्नति के लिए, प्रवचन प्रभावना के लिए, दूसरे को धर्म में स्थिर करने के लिए, सहधर्मी भाइयों की सहायता के लिए, श्रुत सेवा के लिए, चतुर्विध श्रीसंघ पर आई हुई विपत्ति को हटाने के लिए, इत्यादि अनेक शुभ कार्य के लिए अपने न्यायोपार्जित परिग्रह पर ममत्व का परित्याग (दान) करूं। यों मन में उदारता रक्खे, वचन से उपर्युक्त शब्द बोले, काय से यथा शक्ति देता रहे। भगवान् ने तृष्णा बढ़ाने के लिए नहीं कहा, वल्कि घटाने के लिए कहा है। तृष्णा घट जाने से ही मन वाह्य खटपट से शान्त हो कर धर्मध्यान में प्रवृत्ति कर सकता है।

दूसरा मनोरथ–

श्रमणोपासक जो प्रतिदिन ऐसा चिन्तन करे कि कब मैं आरंभ परिग्रह का सर्वथा परित्याग करके अगार धर्म से अनगार धर्म को अपनाऊं, द्रव्य और भाव से मुण्डित होकर १० प्रकार का श्रमणधर्म, १७ प्रकार का संयम, ३२ प्रकार का योग संग्रह, १२ प्रकार का तप, व अनगार के २७ गुणों से युक्त होकर वीतराग प्रभु की आज्ञा का पालन करते हुए विचरूं। वह दिन मेरे लिए परम कल्याण का होगा। इस प्रकार इस मनोरथ को मन वचन और काया से आराधना करे। जैसे कि मन में साधुता के प्रति श्रद्धा-आदर रक्खे, वचन से साधुता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करे अथवा दूसरे मनोरथ के शब्द बोले और काय से यथाशक्य साधुता की, सामायिक, संवर, दया, पौषध आदि से आराधना करता रहे। पडिमाओं की आराधना करना भी यत् किंचित् रूपेण साधुता की आराधना ही है।

तीसरा मनोरथ—

श्रमणोपासक प्रतिदिन चिन्तवन करे कि कब मैं पाप स्थानों की सर्व प्रकार से आलोचना करके निःशल्य बनूं। सभी जीवों से क्षमायाचना करके १८ पाप, तथा चारों प्रकार के आहार का परित्याग करूं, अतिप्रेम से पालन पोषण किए हुए इस शरीर से ममत्व हटाकर, अंतिम श्वासोच्छ्वास में उसे वोसिरा कर, तीन आराधना और चार शरण सहित आयुष्य पूर्ण करूं। वह दिन मेरे लिये परम कल्याण का होगा। इस मनोरथ को मन, वचन, काया तीनों से सफल बनाए। जैसे कि—मेरा सकाम मरण हो—ऐसी मन में भावना रखना, वचन से मनोरथ के शब्दों का उच्चारण करना और काया से—रोग आतंक तथा उपद्रव- उपसर्ग आदि होने पर सागारी संथारा करते रहना। ये तीनों मनोरथ संसार से पार करने वाले हैं। कम से कम यदि ऐसी भावना भाने के लिए समय अधिक न मिले, तो प्रातः सायं दोनों समय अवश्य मनोरथों को सफलीभूत करता रहे।

श्रमणोपासकों के चार भेद

भारं वहमाणस्स चत्तारि आसासा प० तं—

१. जत्थ णं अंसाओ अंसं साहरइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते। २. जत्थ वि य णं उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठावेति तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते। ३. जत्थ वि य णं नागकुमारवासंसि वा सुवण्णकुमार-वासंसि वा वासं उवेइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते। ४. जत्थ वि य णं आवकहाए चिट्ठइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते।

एवामेव समणोवासगस्स चत्तारि आसासा प० तं०-१ जत्थ वि य णं सीलव्वय-गुणव्वय-वेरमण-पच्चक्खाण पोसहो-ववासाइं पडिवज्जइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते। २ जत्थ वि य णं सामाइयं देसावगासियं अणुपालेइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते। ३ जत्थ वि य णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्ण-मासीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते। ४ जत्थ वि य णं अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा झूसणा झूसिए भत्तपाण पडियाइक्खिए पाओवगए कालमणवकंखमाणे विहरइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते।
(स्थानांग सू० अ० ४ उ० ३)

जिस भारवाहक के सिर पर या कन्धे पर या हाथ में भार है, उसने विवशता से, लाचारी से, लालच से या सेवाहित भार उठा रखा है। मार्ग लंबा है, निरंतर भार उठाने से कष्ट का अनुभव करता हुआ जब वह थक जाता है कुछ क्षण विश्राम लेने की जब आवश्यकता अनुभव होती है तब सब से पहले वह भार उतार कर हल्का होना चाहता है। ऐसे क्षणों में वह चार प्रकार से विश्राम कर सकता है।

१—जब भारवाहक भार के दबाव से एक कन्धा थक जाने पर उससे उतार कर भार को दूसरे कन्धे पर रखता है या एक हाथ थक जाने से भार को दूसरे हाथ में ले लेता है, इस प्रकार सफर करते हुए भी थके हुए अंग को कुछ विश्राम मिल जाता है। यह पहला विश्राम स्थान है।

२—जब भारतवाहक को चलते हुए बड़ीनीत लघुनीत की बाधा हो जाए और साथ ही सुखपूर्वक भार उतारने के लिए उचित स्थान भी मिल जाए, तो बाधा मिटाने के निमित्त

सिर पर से या कन्धे पर से भार उतार कर हल्का हो जाता है। कुछ क्षण विश्राम मिल जाता है। यह विश्राम पहले की अपेक्षा अधिक शांतिप्रद होता है। इसमें समय भी अधिक लगता है।

३—जब थके हुए भारवाहक को आगे नागकुमार आदि देव मन्दिर, धर्मशाला आदि मिल जाए तो भोजन पानी के निमित्त, या मध्याह्न काल टालने के निमित्त या रात व्यतीत करने के हेतु वहां ठहरना तीसरी विश्राम भूमि है। इसमें भारवाहक अनेक घंटों तक विश्राम करके शांति अनुभव करता है।

४—जब भारवाहक अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है, या जहां सदा के लिए भार उतारता है, वहां भार उतार कर सदा के लिए विश्राम मिल जाता है। फिर उस भार को पुनः उठाने की आवश्यकता नहीं रहती। यह है चौथा विश्राम स्थान। इसमें आयुपर्यन्त विश्राम एवं शांति का अनुभव करता है।

इसी प्रकार श्रमणोपासक के जीवन में भी चार प्रकार के विश्राम स्थान हैं। मनुष्य कर्मों के भार से, पापों के भार से, गृहस्थ के सहस्रशः झंझटों के भार से, और व्यावहारिक एवं राजनैतिक कार्यभार से लदा हुआ रहता है। उस भार से तंग आ कर विश्राम लेना चाहता है, उसके लिए चार प्रकार की विश्राम भूमि प्रतिपादन की है।

१—जब जीव भगवान के समवसरण में बैठता है या जब श्रमण निर्ग्रन्थों के दर्शन करता हुआ, उनकी देशना सुनता है, और सुनकर पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, तथा अन्य भी नियम उपवास प्रत्याख्यान (त्याग) आदि

धारण करता है। पाप का आंशिक त्याग करते हुए जीवन में नई चेतना, नई स्फूर्ति एवं नया उत्साह पैदा होता है तब उससे जो आनन्द की अनुभूति होती है, वही पहला विश्राम स्थान है।

जो भार को भार मानता है वही उसे उतार कर हल्का होने का प्रयत्न करता है। सम्यक्त्व लाभ होने से ही जीव भार को भार मानने लग जाता है। १२ व्रतों को धारण करते ही श्रावक वहुत कुछ झंझटों से या कर्मो के भार से हल्का हो जाता है। वस वही उसका पहला विश्राम स्थान है।

२—जिसने ८ व्रतों की आराधना सम्यक् प्रकार से कर ली है, वह श्रावक× जव सामायिक तथा देशावकाशिक व्रतों की आराधना में तत्पर हो जाता है, तव दूसरा विश्राम स्थान कहलाता है। अथवा दूसरीपडिमा पहला विश्राम स्थान है और तीसरी पडिमा धारण करना-दूसरा विश्राम स्थान है।

इस में विश्राम, सावद्यव्यापारनिवृत्तिजन्यचित्तशांति है वह पूर्वापेक्षया अधिक देर तक स्थायी रहती है। या तीसरी प्रतिमा में जो कुछ लिखा है वही दूसरा विश्राम भूमि है।

३—पर्व तिथियों मे अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को अहोरात्र के लिए या षष्ठभक्त, अष्टम-भक्त, पोषध उपवास करने से अधिक शांति मिलती है। पोषध में ५ आश्रवों का त्याग, दो करण तीन योग से किया जाता है तथा साथ ही चार प्रकार के अचित्त आहार का भी त्याग किया जाता है। चौथी प्रतिमा में जो कुछ विवेचन किया है, वह तीसरे विश्रामस्थान की ही व्याख्या है।

× या यों ही सामायिक देशावकाशिक करने वाला श्रावक।

४—मृत्यु का समय निकट आया जान कर, उसके भय से सर्वथा दूर रहते हुए उसका स्वागत करने के लिए सहर्ष उपस्थित हो जाना चाहिए। श्रावक अपने मन में ऐसी भावना लाए कि यदि अनशन के द्वारा समाधि पूर्वक इस शरीर का भेद हो जाए तो वह मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात है। जिस प्रकार व्रत धारण करने के समय आत्मा में आनन्द उत्साह और परम हर्ष का उद्रेक होता है उसी प्रकार मृत्यु के समय में भी पूर्ण प्रसन्नता एवं पूर्ण उत्साह होना चाहिए।

भवभेदक, कर्मभेदक सकाममरण तीन प्रकार का होता है। भक्तप्रत्याख्यान, इंगितमरण तथा पादोपगमन। भक्त-प्रत्याख्यान आहार, शरीर, उपधि, और १८ प्रकार के पाप, इन सब का त्याग करना ही भक्तप्रत्याख्यान मरण कहलाता है। वह अपने सहधर्मियों से सेवा करा सकता है। इसकी आराधना कारण पड़ने पर भी की जा सकती है और बिना कारण के भी। वस्ती में भी यह संथारा किया जा सकता है और वस्ती से बाहर अटवी में भी। इसमें यत्ना से उठना, बैठना, खड़े रहना, चंक्रमण आदि क्रिया करना निषिद्ध नहीं है।

दूसरे प्रकार की मारणान्तिक संलेखना 'इंगित मरण' कहलाती है। उसमें त्याग तो उपर्युक्त प्रकार से ही होता है, किन्तु विशेषता यह है कि इसमें किसी से सेवा नहीं कराई जाती है। स्वयं मर्यादित भूमि से बाहर न जाकर नियमित की हुई भूमि में ही उठना, बैठना, चंक्रमण करना, और उच्चार प्रस्रवण आदि करना उसे कल्पता है। तीसरे प्रकार की मारणान्तिक संलेखना पादोपगमन है, इसमें साधक

सिर्फ उच्चार प्रश्रवण के निमित्त जा, आ सकता है। अन्यथा वृक्ष की कटी हुई शाखा की तरह एक स्थान में, एक ही पासे पड़े रहना उसका कल्प है। भारी पीड़ा और प्रवल उपसर्ग हो जाने पर भी स्वयमेव हलन चलन आदि क्रिया न करना तथा पत्थर की शिला की तरह ही निश्चेष्ट रहना होता है। इस प्रकार की उग्र साधना तीसरे प्रकार की आराधना में होती है। संलेखना का अर्थ होता है कषाय का अन्त करने के लिए उसके निर्वाहक और पोषक कारणों को घटाते हुए कषाय को पतला बनाना और औदारिक तैजस तथा कार्मण शरीरों का अन्त करते हुए शेष आयु को समता से व्यतीत करना।

इस व्रत का मुख्य उद्देश्य आत्मघात करने का नहीं बल्कि आत्मगुणघातक अवगुणों के घात करने का है। वस्तुतः राग, द्वेष एवं मोह वृत्ति से ही आत्मघात होता है। आत्मघात प्रायः लज्जा से, निराशा से, आवेश से, प्रलोभन से, भौतिक आशा से और अज्ञानता से किया जाता है।

संथारे में प्राणनाश अवश्य हो जाता है, परन्तु वह राग द्वेष-मोह का कारण नहीं है। इसी कारण मारणान्तिक संलेखना को हिंसा की कोटि में समाविष्ट नहीं किया जा सकता। इस से तो निर्मोहत्व (वीतरागत्व) साधने की रचनात्मक प्रेरणा मिलती है।

जब तक आत्म धर्म में किसी प्रकार की रुकावट नहीं पड़ती, तब तक शरीर की रक्षा करना भी भगवान की आज्ञा में ही है, परन्तु आत्मधर्म को खो कर शरीर की रक्षा करना कायरता है। जबतक विशेष कारण नहीं आ पड़ता, तब तक

वीर सिपाही सब प्रकार से अपनी रक्षा करता है, परन्तु जब स्वामी की आज्ञा का पालन मात्र आत्म बलिदान देने से ही हो सकता है तब वह अपने धन, शरीर, परिवार आदि की परवाह न करते हुए रणांगण में अपने आप को झोंक देता है। यही उदाहरण भगवद्भक्त श्रमणोपासक में भी घटित होता है। वह धर्म के लिए शरीर की रक्षा करता है और धर्म के लिए ही शरीर का बलिदान कर देता है। इस संलेखना व्रत के आराधक, देशविरति और सर्व विरति दोनों ही हो सकते हैं। इस व्रत के पांच अतिचार हैं, जो जानने योग्य हैं, परन्तु आचरने योग्य नहीं होने से त्याज्य हैं।

१. इहलोगासंसप्पओगे—मैं यहां से मर कर पुत्र, राजा, सम्राट् आदि बनूं ऐसी इच्छा करना।

२. परलोगासंसप्पओगे—मैं मरकर परलोक में देव, इन्द्र या अहमिन्द्र आदि बनूं ऐसी आकांक्षा करना।

३. जीवियासंसप्पओगे—अपनी पूजा या सत्कार आदि देख कर उनके लालच में फंसकर अधिक जीने की इच्छा करना।

४. मरणासंसप्पओगे—सेवा सत्कार आदि न होने पर या किसी को अपने पास आते हुए न देखकर अथवा कष्ट से घबड़ा कर शीघ्र ही मृत्यु चाहना ?

५. कामभोगासंसप्पओगे—तप, त्याग के बदले में किसी भी किस्म के भोग की चाहना करना अथवा भोग की इच्छा करना एवं मित्रों पर या माता पिता पुत्र स्त्री आदि पर स्नेह बंधन रखना, अनुभूतसुखों का स्मरण करके उन्हें ताजा बनाना, ये सब कुछ संथारे में निषिद्ध है।

आशंसा का अर्थ होता है-इच्छा, इच्छा को रचनात्मक

बनाना ही आशंसा प्रयोग कहता है। उपर्युक्त सभी अतिचारों का यदि जान बूझ कर सेवन किया जाए तब तो वे अनाचार ही हैं, और यदि भूल से या अनजाने तथा असावधानी के कारण उनका सेवन किया जाए, तब वे अतिचार कहलाते हैं।

जब संलेखना व्रत की आराधना सम्यक्तया की जाती है, तब श्रमणोपासक चौथी विश्राम भूमि में पहुंच जाता है और परलोक का तथा भगवान की आज्ञा का आराधक बन जाता है।

साम्परायिकी क्रिया

श्रमणों के पास सामायिक व्रत युक्त बैठे हुए सर्वोत्तम श्रमणोपासक को भी सांपरायिकी क्रिया ही लगती है। इस की पुष्टि के लिये आगम में मूलपाठ का उल्लेख इस प्रकार है।

"समणोवासगस्स णं भंते ! सामाइयकडस्स समणोवासए अच्छमाणस्स तस्स ण भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ संपराइया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ।

से केणट्ठेणं जाव संपराइया किरिया कज्जइ ? गोयमा ! समणोवासगस्स णं समाइयकडस्स समणोवस्सए अच्छमाणस्स आया अहिगरणी भवइ, आयाहिगरणवत्तियं च णं तस्स नो इरियावहिया किरिया कज्जइ संपराइया किरिया कज्जइ!

[भगवती सूत्र श० ७ उ० १]

प्रश्न—भगवान्! कोई एक श्रमणोपासक श्रमणों के उपाश्रय में सामायिकव्रत युक्त बैठा हुआ है, तो क्या उस समय उसे ईर्यापथिकी क्रिया लगती है? या सांपरायिकी?

उत्तर—गौतम ! उसे ईर्यापथिकी क्रिया नहीं, किन्तु सांपरायिकी क्रिया लगती है।

शंका—जो श्रमणोपासक सामायिक व्रत युक्त नहीं है और श्रमणों के उपाश्रय में भी नहीं बैठा है, उसे सांपरायिकी क्रिया लगे, इसमें कोई आश्चर्य नहीं, परन्तु जो सामायिक व्रत युक्त है और वह भी श्रमणों के उपाश्रय में (जहां उत्तम श्रमण विराजमान हों) बैठा है, वहां एक तो सामायिक से कषाय निरुद्ध हो जाते हैं, दूसरा श्रमणों के उपाश्रय में वातावरण शान्त और कषाय रहित होता है, फिर उसे सांपरायिकी क्रिया कैसे लगती है ? ईर्यापथिकी क्यों नहीं ?

समाधान—जो श्रमणोपासक उपाश्रय में श्रमण निर्ग्रंथों के पास सामायिक करके बैठा है, जिसकी कषाय भी शांत है, फिर भी उसकी आत्मा अधिकरणी है। काम, क्रोध, माया, लोभ, अहंकार, राग द्वेष इन्हें अधिकरण कहते हैं। हल, शकट, गाड़ी, उद्योग, धन्धा जो कुछ हो रहा है, वे सब कषाय के आश्रय भूत हैं। जो कषाय के आश्रय भूत हैं, उनके साथ सामायिक में भी ममत्व का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। इसी कारण वह कषाय के रुके रहने पर भी अधिकरणी है। जिस क्रिया के करने पर आत्मा अधिकरण का कारण बना रहे, उसे सांपरायिकी क्रिया लगती है, ईर्यापथिकी नहीं।

यहां एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि एक ओर तो आगम में यह लिखा है कि जो मकान श्रमणों के निमित्त बना है, उसमें श्रमण निर्ग्रन्थों को ठहरना निषिद्ध है, दूसरी ओर प्रस्तुत पाठ में 'समणोवास्सय' अर्थात् श्रमणों का उपाश्रय– ऐसा लिख कर आगमकारों ने उसका विधान किया है। क्या इन

दोनों में विरोध नहीं है ? इसका समाधान है कि-जिसमें रह कर श्रमण, ज्ञान दर्शन चारित्र की विशेष आराधना कर सके, उसे उपाश्रय कहते हैं अथवा जिस मकान में श्रमण विराजमान हों, उसे श्रमणोपाश्रय कहते हैं। प्रस्तुत पाठ का उसी उपाश्रय से तात्पर्य्य है, जिसमें श्रमण निर्ग्रन्थ विराजमान हों। रिक्त उपाश्रय को श्रमणोपाश्रय नहीं कहते हैं।

संकल्प की मुख्यता

"समणोवासगस्स णं भंते! पुव्वामेव तसपाण समारंभे पच्चक्खाए भवइ, पुढवीसमारंभे अपच्चक्खाए भवइ से य पुढवि खणमाणे अण्णयरं तस पाणं विहिंसेज्जा, से णं भंते! तं वयं अतिचरति ? नो इणट्ठेसमट्ठे, नो खलु से तस्स अइवायाए आउट्टइ।"

"समणोवासगस्स णं भंते! पुव्वामेव वणप्फइ समारंभे पच्चक्खाए। से णं पुढवि खणमाणे अण्णयरस्स रुक्खस्स मूलं छिन्देज्जा से णं भंते! तं वयं अतिचरति ? नो इणट्ठेसमट्ठे नो खलु से तस्स अतिवायाए आउट्टइ।"

[भगवती सूत्र श० ७ उ० १]

प्रश्न—भगवन्! श्रमणोपासक ने व्रत धारण करने के समय यह प्रतिज्ञा की है कि मैं निरपराध त्रस जीवों (जो कि चक्षु से चलते फिरते हुए नजर आते हैं, उन) का वध संकल्प से, इरादे से, जान-बूझ कर नहीं करूंगा। उसी श्रमणोपासक से यदि किसी अन्य समय में कुदाली से पृथ्वी खोदते हुए किसी त्रस प्राणी की हिंसा अकस्मात् हो जाए, तो क्या उसका व्रत आंशिक रूप से या सर्वथा रूप से भग्न हो गया है, ऐसा मानना उचित है ?

उत्तर—गौतम ! उसका व्रत न तो अतिचार से दूषित हुआ, और न सर्वथा भग्न ही हुआ। क्योंकि उसके मन में त्रस प्राणी के वध करने का संकल्प ही नहीं था। उसने तो संकल्पी हिंसा का त्याग किया है। जो त्रस प्राणी अकस्मात् उस से मर जाए, तो इससे उसका व्रत अतिचार से भी दूषित नहीं होता, तब सर्वथा भग्न होने का तो प्रश्न ही नहीं रहता।

प्रश्न—भगवन् ! श्रमणोपासक ने अपने जीवन के किसी भी समय में वनस्पतिकाय के आरंभ करने का त्याग किया है और पृथ्वीकाय आदि के आरम्भ का त्याग नहीं किया, तो ऐसे समय में उस श्रावक से पृथ्वी खोदते हुए, किसी वृक्ष विशेष की जड़ का अकस्मात् छेदन हो जाए, तो क्या उसकी प्रतिज्ञा या व्रत अतिचार से दूषित हो गया एवं उसका व्रत भग्न हो गया—ऐसा मानना उचित है ?

उत्तर—गौतम ! ऐसा मानना सिद्धांत से सम्बन्धित नहीं है, क्योंकि उसका संकल्प—इरादा वनस्पति की जड़ काटने का नहीं था, अर्थात् उसने जड़ को इरादतन नहीं काटा। इसी कारण से उसका व्रत सुरक्षित है। जैन धर्म बाह्य शुभ अशुभ क्रिया करते हुए को देख कर उसकी अच्छाई बुराई का, अतिचार अनाचार का, न्यूनाधिक दोष या पाप का निर्णय नहीं करता, बल्कि उसकी शुभ अशुभ भावनाओं को परख कर के फैसला देता है, न्याय एवं इन्साफ को ही वस्तुतः अहिंसा कहते हैं, पूर्णतया न्याय करने से यदि अपराधी का मन खिन्न होता हो, तो न्याय करने वाले की अहिंसा सर्वदा सुरक्षित रहती है। धर्म के सभी अंगों का आधार न्याय है। उसे आचरण करने के उपाय को नीति कहते हैं। नीति के बिना न्याय नहीं होता। न्याय के बिना नीति संहारिका होने

से पतन का कारण बन जाती है। प्रस्तुत पाठ न्याय § का सबक सिखाता है।

श्रावक वृत्ति

"अगारि सामाइयंगाइं सड्ढी काएण फासए।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए।
(उत्त॰ ५-२३)

अर्थ—श्रद्धावान गृहस्थ को चाहिए कि सामायिक के सभी अंगों का पूर्णतया सेवन, मन वचन और काया से करते हुए महीने में कोई भी पक्ष बिना पोषधोपवास किये न जाने दे। कोई भी रात्रि षड् आवश्यक किये बिना न जाने दे। अर्थात् महीने में ६ पोषध न हो सके तो ४ करे। यदि चार पोषध भी न हो सके, तो दो पोषध तो अवश्य कर लेना चाहिए। कोई भी पक्ष रिक्त नहीं जाने देना चाहिए।

सामायिक तीन प्रकार की ही होती है, जैसे कि सम्यक्त्व सामायिक, श्रुतसामायिक, देशव्रत सामायिक। इनमें से पहली सामायिक निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उववूह, स्थिरीकरण, सहधर्मिवत्सल प्रवचन-प्रभावना, इन आठ अंगों पर आधारित है। आधार के बिना जैसे आधेय नहीं टिक सकता, वैसे ही आठ अंगों के बिना सम्यक्त्व सामायिक निष्प्राण है।

---

§ न्याय भी योग्यता पर आधारित है। बिना योग्यता के दखल देना, अथवा बरबस न्यायकर्ता बन जाना, या अपनी मर्यादा का उल्लंघन करके संसारियों का न्याय करना, अनधिकार चेष्टा है। श्रमणवर्ग वैसे न्याय से दूर रहते हैं—जिसमें परमार्थ दृष्टि हो या सावद्य-क्रिया की संभावना हो!

दूसरी सामायिक के पांच अंग हैं। श्रुतज्ञान के १४ अतिचार वर्ज कर, आगमों का पांच प्रकार से स्वाध्याय करना। जैसे कि वाचना, पृच्छना, पर्यटना, धर्मकथा, तथा अनुप्रेक्षा (निदिध्यासन) इन पांचों में से किसी की भी आराधना करना, श्रुतसामायिक है। यहां ज्ञानसामायिक नहीं कहा बल्कि श्रुत सामायिक कहा है, क्योंकि स्व पर कल्याण के लिए जितना श्रुतज्ञान उपकारक है, उतना अवधि आदि ज्ञान नहीं। इसी कारण श्रुत सामायिक कहा है। वह उक्त पांच अंगों पर आधारित है। उनके बिना श्रुतज्ञान निष्प्राण है एवं अकिंचित्कर है। पांच अंगों में भी अनुप्रेक्षा की प्रधानता है।

तीसरी देशव्रत सामायिक—नियमित समय के लिए ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत का पूर्णतया पालन कषायों का यथाशक्य निग्रह, इन्द्रियों एवं मन पर यथाशक्य विजय, मन वचन काय को अशुभ से हटाना और इनको शुभ में लगाना। ५ समिति, ३ गुप्ति ये भी सामायिक के अंग हैं। ११ पडिमाओं में ऐसी कोई 'पडिमा' नहीं, जिसमें सामायिक की आराधना करना परम आवश्यक न हो।

सर्व विरति में तो ऐसी कोई क्रिया नहीं, जिससे सामायिक की पोषणा न हो सके, अतः सिद्ध हुआ कि सभी उपादेय नियमोपनियमों में सामायिक ओतप्रोत है। चारित्र की तथा धर्म की बुनियाद ही सामायिक है।

श्रावक के २१ गुण

गुण इकवीस कहूं श्रावकना,
सुनता अचरज थाएजो।
गुण ग्राही श्रावक जिनकेरो,
सांभलतां सुख पाएजो ॥१॥

पहले बोले सामायिक वंता,
बीजे हो गुणधारजी।
तीजे लज्जावन्त जो कहिए,
चौथे शील आचारजी ॥२॥

पांचवें श्रावक दयावंत कहिए,
छठे विनय विवेकजी।
गुणग्राही सातवें पद कहिए,
आठवें पर उपकारजी ॥३॥

नवमें श्रावक ऐश्वर्यवंता,
दशवें हो गुणधारजी।
अग्यारवें सब जीवां हितकारी,
बारवें अवसर जाननहारजी ॥४॥

तेरहवें श्रावक इसड़ा होवे,
जैन धर्म अनुरागजी।
चौदवें घरसंपति न होवे,
तो दान हीन मत भाख जी ॥५॥

पंदरवां घर संपति जे होवे,
मान करे नहीं कोय जी।
सोलवें समदृष्टि पुरुषां को,
अविनय करे नही कोय जी ॥६॥

सतरवें बोले मिथ्यादृष्टि थी,
वाद करे न आनजी ।
पापकारी उपदेश न देवे,
बोल अठारवें जानजी ॥७॥

उन्नीसवें श्रावक इसड़ा होवे,
ध्यावे धर्म शुभ ध्यानजी ।
बीसवें कूड़ा आल न देवे,
उत्तम श्रावक जानजी ॥८॥

इकीसवें श्रावक इसड़ा होवे,
जिण कार्य सु उपजे अप्रतीतजी ।
सो कार्य श्रावक नहीं करता,
यही उत्तम की रीत जी ॥९॥

तीन मनोरथ, नियम चउदह,
श्रावक चतुर सुजानजी ।
इग्यारह पडिमा, विरतां बारह,
ध्यावे जिन परमाण जी ॥१०॥

दृढ़धर्मी पुरुषार्थी श्रावक,
भजे नित्य भगवान्जी ।
अन्त समय में करे संथारा,
जावे देव विमान जी ॥११॥

गुरुप्रसादे यह गुण गाए,
होशियारपुर मंझार जी ।
संवत् उगणीसौ, साल चौरासी,
ऋषि रतिराम उच्चार जी ॥१२॥

श्रावक के लक्षण

श्रावक जन तो तेहने कहिए, जो पीर पराई जाने रे
थावर जंगम सब जीवन, जो करुणा मन में आने रे टेक

१. "श्र" श्रद्धान धरे देवागम गुरु, सत्यार्थ माने रे।
नव तत्व और सार पदार्थ, आत्म निज पहचाने रे॥

२. "व" विवेक हिताहित होवे, आपा पर को छाने रे।
"क" से क्रियावान हो सच्चा, व्रत तप संयम ठाने रे॥

३. धर्म अहिंसा धार निरन्तर, मुख सों सत्य बखाने रे।
पर धन, पर वनिता का त्यागी, तृष्णा नागन हाने रे॥

४. क्रोध काम दुर्भाव निवारे, लोभ कपट मद भाने रे।
विषयासक्त न होवे किंचित्, इन्द्रिय वश में आने रे॥

५. मैत्रीभाव सभी से राखे, गुणी लख चित हर्षाने रे।
दुःखी हो देख,दुखी के दुःख को, समता सों मन साने रे॥

६. जल में कमल, कीच में कंचन, त्यों घर वास बसाने रे।
सो "शिवराम" भक्त है सच्चा, धन्य धन्य है ताने रे॥

जैन के लक्षण

१. जैनी जन तो तेहने कहिए, करे स्व-पर कल्याण जी।
जंगम थावर जीव हैं जितने, जाने आत्म समान जी॥
जैनी जन तो तेहने कहिए टेक

२. वीतराग देव को माने, हो ब्रह्मा, शिव, राम जी।
वीर, बुद्ध, ब्रह्मा, अल्ला हो, नहीं नाम से काम जी॥